

तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑĀ

वर्ष 32 • अंक 124 • अप्रैल-जून, 2004

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)

જૈન વિશ્વ ભારતી

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-124

APRIL—JUNE, 2004

Patron

Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur

Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta

Dr R.P. Poddar, Pune

Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur

Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun

Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun

Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun

Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 124

APRIL—JUNE, 2004

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

नियंत्रण और शोधन

समाज का नियंत्रण हो सकता है, शोधन नहीं।
शोधन व्यक्ति-व्यक्ति का होता है।
सत्ता से सामूहिक परिवर्तन हो सकता है,
किन्तु वह केवल बाहरी आकार का होता है।
उपदेश या समझाने से वैयक्तिक परिवर्तन होता है,
किन्तु वह हृदय का होता है।
सत्ता का आदेश होता है। उसे कोई चाहे या न चाहे,
टाल नहीं सकता।
धर्म का उपदेश होता है, उसे न चाहे,
वह टाल सकता है।
एक में विवशता है, दूसरे में हृदय की स्वतंत्रता।
स्वतंत्रता के लिए उपदेश चाहिए।

— अनुशास्त्रा आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ
सामाजिक समानता बनाम राजनैतिक स्थिरता	डॉ. बच्छराज दूगड़	1
अरविन्द साहित्य और मनोनुशासनम् में आत्म तत्त्व	श्रीमती उर्मिला देवी	7
वृद्धावस्था तथा मृत्यु क्यों आते हैं ?	डॉ. अनिलकुमार जैन	15
चली है रस्म कि कोई सर उठा के न चले	निरंजन सहाय	19
क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) सचित तेउकाय है ?	प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार	36

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	85
S. Iadvada : The Perspective of Indian Logic	Dr. Rajjan Kumar	93
Glimpses of the Aspects of Jainology and Buddhist Studies	Dr Pradyumna Shah	102

सामाजिक समानता बनाम राजनैतिक स्थिरता

— डॉ. बच्छराज दूगड़

न्याय के लिए समानता का सिद्धान्त और व्यवहार आवश्यक है। काल के विभिन्न खण्डों में पुरुष और स्त्रियों के बीच एक दूसरे से विशिष्ट माने जाने की प्रवृत्ति रही है; रोजगार, शिक्षा आदि मूलभूत अधिकारों का हनन भी विशिष्ट वर्गों द्वारा होता रहा है एवं मानव-अधिकारों की घोषणाएं भी अभी पूर्णता नहीं पा सकी हैं, फिर भी प्रजातंत्रीय व्यवस्था कानून के रूप में ही सही, समानता के सिद्धान्त को स्वीकृत करती आ रही है। मानवाधिकार संबंधी विभिन्न प्रसंविदाएं एवं घोषणाएं प्रजातंत्र की पक्षधर हैं, क्योंकि प्रजातांत्रिक व्यवस्था के विकास के विभिन्न चरणों में नृवंशों एवं समूहों के बीच के मान्य संबंध अधिकारों एवं लाभों की मूलभूत समानता से ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

स्वतंत्र समाज में न्याय का अर्थ स्वतंत्रता भी है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता, भाषा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कूरातापूर्ण, तर्कविहीन एवं असामान्य दण्डों को न भोगने की स्वतंत्रता है। यदि हम स्वतंत्रता का वास्तविक आनन्द लेना चाहते हैं और स्वतंत्रता के लिए लड़ना-मरना चाहते हैं तो हमें इसे प्रत्येक व्यक्ति तक व्यापक बनाना होगा- भले ही कोई व्यक्ति धनवान हो या गरीब, कोई हमसे सहमत हो या असहमत, वे किसी भी वंश, जाति या रंग के हों। समानता की प्रतिष्ठा ही स्वतंत्रता का आनन्द देगी।

विषमता के बावजूद समानता वांछनीय

यद्यपि विषमता एक शक्तिशाली परम्परा एवं संस्कृति द्वारा स्वीकृत है। अवसरों की समानता भी वर्तमान विषमता को वैध ठहराती है, क्योंकि अवसरों की समानता के रहते व्यक्ति अपनी सफलता-असफलता का जिम्मेदार स्वयं है। समाजशास्त्रियों का यह मानना है कि जहां सामाजिक गतिशीलता विद्यमान हो, वहां

लोगों को कुछ सीमा तक सामाजिक विषमता को स्वीकार कर लेना चाहिए पर वस्तुतः व्यक्ति सामाजिक विषमता की वैधता को स्वीकार नहीं करता। विषमता की वैधता कितने ही तर्कों के बावजूद स्वीकृत हो भी नहीं सकती। कार्य करने वाला वर्ग कभी भी संपत्ति के वर्तमान वितरण को उचित और न्यायपूर्ण नहीं मान सकता और न ही आय के वितरण को प्रबंधक व व्यवसायी वर्ग में प्रतिभा व चातुर्य के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है।

आय की विषमता समाज में न्यायोचित एवं वांछनीय हो सकती है, बशर्ते कि वह समाज की विषमता को कम करने में सहयोग करती हो। मूलभूत सामाजिक आवश्यकताओं को सभी में समान रूप से वितरित नहीं किया जाए अथवा कमजोर वर्ग के पक्ष में उसका वितरण नहीं हो तो आय की विषमता उचित नहीं ठहराई जा सकती। सामाजिक न्याय का यह सिद्धान्त विषमता के बारे में आर्थिक व सामाजिक विचारधारा का विकास करता है तथा यह संदेश भी प्रसारित करता है कि समानता वांछनीय है, क्योंकि इसके पक्ष में नैतिक तर्क है एवं समाज के सभी सदस्यों और विशेषकर समाज के कमजोर वर्गों को यह सिद्धान्त लाभ पहुंचाता है।

सामाजिक समानता अपरिहार्य :-

प्रजातंत्र में समानता ऐसे शिक्षित और विवेकी मतदाताओं के विकास में सहायक होती है जो सार्वजनिक नीतियों के निर्माण की प्रक्रिया में सहभागिता व विचार-विमर्श के अवसर प्रदान करते हैं। मतदाताओं की राजनैतिक सहभागिता, राजनैतिक जागरूकता व विश्वास बढ़ाने में भी सहायक है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि सामाजिक समानता राजनैतिक और सामाजिक स्थिरता की आवश्यक शर्त है। इस दृष्टि से सामाजिक व आर्थिक समानता राजनैतिक समानता से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। समाज में विषमताओं की कमी जहां एक ओर सामाजिक तनाव व संघर्षों में कमी लाती है, वहीं वह समूहों के बीच सहयोग विकसित कर सामाजिक शांति का आधार भी बनती है। नागरिकों के कार्य ही समाज-संरचना में स्थित राजनैतिक तनावों व हिंसा को कम करते हैं। यह सत्य है कि राज्य के द्वारा किया जाने वाला सामाजिक कल्याण विषमता पर आधारित वर्ग संघर्षों को तो रोकना है पर अन्ततः वह सामाजिक समानता से ही निर्देशित होता है। समस्त कल्याणकारी कार्य इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर प्रारम्भ किये जाते हैं।

सामाजिक कलह पर नियन्त्रण वस्तुतः आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक अवनति को नियन्त्रण करता है, जिससे समाज व राज्य में न्याय की चेतना विकसित होती है। विषमता होते हुए भी राजनैतिक हिंसा पर नियन्त्रण संभव तो है लेकिन समाज का झुकाव विषमता कम करने के लिए होना चाहिए।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सरकार, धर्म व समाज के बिना हस्तक्षेप के भोजन, पहनावे, शारीरिक भाव-भंगिमाओं, लक्ष्य एवं जीवन दर्शन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसे वैवाहिक जीवन, अकेले रहने, बहिर्मुखी या अन्तर्मुखी जीवन शैली चुनने की स्वतन्त्रता हो जब तक कि वह स्वयं दूसरे की जीवन शैली में हस्तक्षेप न करे।

सामाजिक समानता आर्थिक या राजनैतिक समानता अथवा दोनों से ही सुनिश्चित नहीं की जा सकती। लिंग, जीवन स्तर, वर्ग, धर्म, जाति, वंश आदि भेदों को आर्थिक व राजनैतिक समानता से दूर नहीं किया जा सकता। सामाजिक समानता मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक प्रश्न हैं, जिसे इनसे पृथक रखकर ही समाहित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए पर यह सुनिश्चित है कि सामाजिक समानता मूलभूत है इसके अभाव में राजनैतिक स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती।

सामाजिक समानता के केन्द्र

आर्थिक एवं राजनैतिक समानता से भी अधिक सामाजिक समानता अपेक्षित है। उदारवादी परम्पराएं राजनैतिक समानता पर बल देती हैं जबकि उग्र सुधारवादी परम्परा आर्थिक समानता पर बल देती है। सामाजिक समानता का प्रश्न इन परम्पराओं से अछूता तो नहीं है लेकिन इस पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा गया है। सामाजिक समानता के पांच केन्द्र हैं -

- (1) पुरुष और महिला के बीच समानता
- (2) सामाजिक वर्गों के बीच समानता
- (3) सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
- (4) वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता का समान अधिकार।

समाज में महिलाएं लगभग 48-49 प्रतिशत हैं, इसलिए सामाजिक समानता की दृष्टि से पुरुष-महिला समानता पर बल देना आवश्यक है। आधुनिक समाज भी पुरुष प्रधान समाज है और स्त्री पुरुष की सहायक है। मध्यकाल के समाज में तो स्त्री प्रायः विवाह, मातृत्व और घर के काम-काज का ही साधन मानी जाती रही है। उनके ये कार्य धर्म व रीति-रिवाजों द्वारा भी स्वीकृति किये हुए थे। आर्थिक-तकनीकों व औद्योगिक परिवर्तन के साथ धीमे ही सही लेकिन समाज में परिवर्तन हुआ है जिससे महिला-शिक्षा एवं महिलाओं के लिए रोजगार में वृद्धि हुई है। किन्तु उनके सामाजिक ढांचे और विशेषकर पारिवारिक ढांचे में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया है। स्त्री-पुरुष समानता की दृष्टि से प्लेटो के काल से ही यह विचार सामने आता रहा है कि परिवार को समाप्त किये बिना यह समानता संभव नहीं है।

परिवार के महत्त्व को कभी भी नकारा नहीं जा सकता, विशेषकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में। इसलिए हमारे लिए करणीय और व्यावहारिक कार्य हैं- परिवार की पृष्ठभूमि स्वीकार करते हुए स्त्री-पुरुष समानता के लिए कार्य करना। इसके लिए हमें शिक्षा व रोजगार के अतिरिक्त साधन महिलाओं को उपलब्ध करवाने होंगे, उन्हें स्वतन्त्र जीवन का अधिकार एवं घर के कार्यों में स्त्री-पुरुष की बराबर की भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

सामाजिक वर्ग अर्थात् जाति, रंग, समूह, वंश आदि के आधार पर समाज को विभक्त करना इन वर्गों में समानता की आवश्यकता पूरे सामाजिक तंत्र को है। यद्यपि सामाजिक वर्ग आर्थिक वर्गों से भिन्न है, लेकिन इनके बीच संबन्ध को देखा जा सकता है। भारत सरकार के अनुसूचित जाति एवं जन जाति के आयुक्त व मंडल आयोग (1970) की रिपोर्ट के अनुसार उच्च जातियों व उच्च आय समूहों तथा निम्न जातियों व निम्न आय समूहों के बीच एक उच्च सह-सम्बन्ध है। आर्थिक अवरोधों को तो दूर करने के प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर भी होते हैं लेकिन एक व्यक्ति उन सामाजिक अवरोधों को दूर नहीं कर पाता जो उसे जन्म से मिले हैं तथा आर्थिक अवरोधों को दूर करने के बावजूद भी वे परिवर्तित नहीं होते।

रंगभेद विषमतावादी समाज का एक आधार तो है लेकिन जाति विभाजन जैसा आंतरिक आधार नहीं। रंगभेद का आधार त्वचा है जबकि जाति भेद आंतरिक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों पर टिका है। एक देश के मूल निवासियों तथा आगंतुक जातियों के संबंध भी अभी अनसुलझे हैं। आर्यों के साथ अनार्यों जैसे निषाद (जंगली जनजातियां) व किरात (पहाड़ी जनजातियां) की आज भी समस्याएं हैं। इसके उदाहरण क्रमशः झारखण्ड आन्दोलन तथा दार्जीलिंग का पृथक्तावादी आन्दोलन रहे हैं। यद्यपि इन जातियों के लिए आर्थिक, राजनैतिक व शैक्षिक भेदभाव को कम करने हेतु सरकार द्वारा कुछ कदम उठाये गये हैं लेकिन सामाजिक समानता का प्रश्न अभी भी अनसुलझा है।

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की समानता का प्रश्न भी सामाजिक समानता के प्रश्न से जुड़ा है। धर्म निरपेक्षता राज्यनीति के रूप में और धार्मिक सहिष्णुता व्यक्तिगत व्यवहार के रूप में हमारे सामने है। राज्य द्वारा धर्मनिरपेक्षता का अर्थ - "सभी धर्मों को समान महत्त्व" किया जाए तो यह सामाजिक सौहार्द की अपेक्षा सामाजिक असमानता, अंधविश्वास और साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ाता ही है। धर्म निरपेक्षता का राज्य के लिए अर्थ होगा - राज्य किसी भी धर्म के साथ प्रतिबद्ध नहीं है। राज्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाज का पुनर्निर्माण करे ताकि सामाजिक समानता का मार्ग प्रशस्त हो। व्यक्तिगत स्तर पर धर्म का स्वीकरण एवं निर्वाह प्रायः परिवार की धर्म की परम्परा से ही होता है। धर्म का इस रूप में स्वीकरण व्यक्ति के मन से एक धर्म के प्रति श्रेष्ठता व दूसरे धर्म के प्रति हीनता के भाव पैदा कर राज्य द्वारा देता है। इसलिए राज्य द्वारा सभी धर्मों के प्रति आदर धर्मसहिष्णुता का आधार नहीं बनाया जा सकता। इसके लिए अपेक्षित है सभी धर्मों का स्वतन्त्र एवं वैज्ञानिक अध्ययन एवं ज्ञान।

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अर्थ विभिन्न भाषाई समूहों को समान स्वायत्तता तथा विकास की स्वतन्त्रता देना भी है। भाषाई विविधता को स्वीकार करते हुए एक ऐसी संपर्क भाषा भी हो, जिसे सभी स्वीकार करें। भिन्न-भिन्न समाज में कला, संगीत, नृत्य आदि की विविधताएं एवं भिन्नताएं हैं, अतएव इनकी अभिव्यक्ति की स्वायत्तता एवं समान प्रेरणा भी आवश्यक है ताकि समाज के सभी सदस्य संस्कृति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त कर सकें।

विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी अपेक्षित है। एक व्यक्ति को बौद्धिकतापरक, आलोचनात्मक एवं भविष्योन्मुखी विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। भले ही वे विचार सरकार, धर्म, मूल्यों एवं विचारधाराओं के विपरीत हैं। स्व अभिव्यक्ति समाज के सभी वर्गों में समानरूप से विकसित नहीं हुई। शिक्षा द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसे विकसित करना चाहिए। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के विकास हेतु शिक्षातंत्र एवं संचारतंत्र पर सरकार, संगठन अथवा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वर्ग का नियन्त्रण न हो।

लोकतंत्र का विरोधाभास

आधुनिक समाज में विषमता की समस्या राजनीतिक एवं अर्थतंत्र के बीच जटिल संबंधों पर निर्भर है। प्रजातन्त्र एवं वैधानिक परिवर्तनों से व्यक्ति-व्यक्ति को समान तो कह दिया गया है पर अभी भी सम्मान, संपत्ति व शक्ति की दृष्टि से असमानता व्याप्त है। यह एक विरोधाभास ही है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था जो एक ओर निष्पक्षता, स्वच्छ प्रशासन, खुलेपन व समान अधिकारों पर निर्भर है तो दूसरी ओर प्रगतिशील समाज के विभिन्न वर्गों में धन के वितरण में विषमता है। आधुनिक प्रजातन्त्र तो एक तरह से इस असंगतता के लिए बाध्य है, क्योंकि समानता व आर्थिक असमानता का संघर्ष उसमें है। व्यक्तिगत स्तर पर भी नागरिक आर्थिक रूप से असमान समाज का अनुभव करते हैं, जबकि राजनैतिक व्यवस्था अवसरों के स्तर पर स्वतंत्र, समान और खुलेपन की आवाज बुलन्द करती है।

राजनैतिक व्यवस्था सामाजिक समानता को मानने के लिए बाध्य है, क्योंकि सरकार चुनाव पर निर्भर है। वह नागरिक कल्याण और पुनः वितरण व्यवस्था को झुठला नहीं सकती पर दुर्भाग्य यह भी है कि वे मुक्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता को भी नकार नहीं पाती। यह एक बड़ी समस्या है, विशेषकर पूंजीवादी लोकतंत्रों के समक्ष कि कल्याण व आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता को एक साथ कैसे जोड़ा जाए? कैसे आर्थिक परिलाभ का वितरण हो जिससे जनसंख्या के एक बड़े भाग के जीवन स्तर को सुधारा जा सके। आर्थिक पुनर्वितरण पर तो सरकारें बल देती हैं पर खुले आर्थिक विकास रूपी अश्व को कैसे नियंत्रित किया जाए, यह जानने का कोई प्रयत्न नहीं करता।

उपयोग व प्राप्ति के स्तर पर सामाजिक विषमता अपरिहार्य है, बशर्ते सामाजिक

गतिशीलता एवं राजनैतिक निष्पक्षता हो। नागरिक असमानता दूर कर सकते हैं लेकिन सरकार विषमता दूर करने में सक्षम नहीं, विशेष रूप से आय की विषमता।

अतएव आर्थिक असमानता तो कुछ सीमा तक स्वीकार्य हो सकती है पर समाज को खण्ड-खण्ड कर सामाजिक असमानता कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकती और न ही वह राजनैतिक स्थिरता ला सकती है। भारत में पिछले कुछ वर्षों से विभाजन एवं राजनीति का आधार आर्थिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक हो गया है। आर्थिक समानता के अभाव में सामाजिक समानता ही है जो राजनीति को स्थायित्व देती है। आर्थिक समानता के साथ सामाजिक समानता भी छीन ली जाए तो फिर राजनैतिक स्थायित्व की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

संदर्भ :-

1. B.R. Nagar, Globalization and Nationalism, Sage Publications, Delhi.
2. Rajendra Singh, Social Movements, old and new, A Postmodernist Critique, Sage Publications, Delhi.
3. Vidhu Verma, Justice, Equality and Community, Sage Publications, Delhi.
4. Inger, Skjelsback and Dan smith (Ed.) Gender, Peace & Conflict, Sage Publications, Delhi.
5. Ram Ahuja, Social Problems in India, Rawat, Jaipur.

अध्यक्ष

अहिंसा एवं शान्ति विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ- 341306 (राजस्थान)

अरविन्द साहित्य और मनोनुशासनम् में आत्म तत्त्व

श्रीमती उर्मिला देवी

‘मनोनुशासनम्’ का मूल वर्ण्य विषय मन का अनुशासन अर्थात् संयमन करना है जो सम्भवतः आत्मप्राप्ति के मार्ग का प्रथम सोपान है। शनैः-शनैः मन को नियन्त्रित और स्थित करते हुए आत्मतत्त्व का स्वरूपानावरण ही मोक्षावस्था की प्राप्ति है। मनोनुशासन में वस्तुतः मन एवं मन की विभिन्न अवस्थाओं एवं स्थितियों, मन के उत्तरोत्तर प्रगतिशील स्तरों का मनोनिरोध के विभिन्न साधनों आदि का ही वर्णन सूत्रात्मक रूप में किया गया है जिस पर आचार्य महाप्रज्ञजी (मुनि नथमल) ने बृहत् व्याख्या (हिन्दी में) लिखकर उसे जनसामान्य के लिए बोधगम्य एवं प्रयोगमूलक बना दिया है। मानसिक विकास से आरम्भ करके मनः शोधन के विभिन्न सोपानों से लक्ष्यप्राप्ति की ओर अग्रसर मनोनुशासन में आत्मतत्त्व के स्वरूप का विवेचन अत्यन्त अल्पमात्रा में किया गया है। प्रस्तुत लेख का प्रमुख विषय आचार्य तुलसी कृत मनोनुशासनम् में वर्णित आत्म स्वरूप का श्री अरविन्द सम्मत सच्चिदानन्द आत्मतत्त्व के साथ समालोचनात्मक विश्लेषण करना है, अतः आत्मतत्त्व स्वरूप पर केन्द्रित होना ही विषय सम्मत होगा।

मनोनुशासनम् के अनुसार आत्मतत्त्व को चेतनवत् द्रव्य बताया गया है जिसका शुद्ध स्वरूप ज्ञान, दर्शन सहज आनन्द, सत्य एवं बल हैं। एकमात्र आत्मतत्त्व के चैतन्यशील होने के कारण ही यह चराचर दृश्यमान जगत् चेतनायुक्त दिखाई देता है। मनोनुशासनम् का दर्शन केवल आत्मतत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है इसके विपरीत वेदान्त दर्शन दृश्यमान रूप में आत्मा और परमात्मा दो तत्त्वों को मानते हैं यद्यपि दोनों में केवल स्वरूपगत भेद प्रतीति है, आत्यन्तिक एवं तात्त्विक स्वरूप में आत्मा और परमात्मा एक ही ब्रह्म तत्त्व की दो अवस्थायें हैं। जीवों के भीतर क्रियाशील चेतन तत्त्व ही आत्मा है। उसकी सर्वव्यापकता और चित्शक्ति के

कारण ही जड़ जगत् चेतन सा प्रतीत होता है। इसीलिए आत्मा को ईश्वर का प्रतिबिम्ब, ईश्वरांश, ब्रह्म की छाया इत्यादि उपमानों के द्वारा लक्षित करने का प्रयास किया गया है।

श्री अरविन्द ने भी आत्मा को ब्रह्म का अंश रूप माना है। ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द इन तीन तत्त्वों के कारण ही जीव सत्तावान, चेतन और आनन्दित अनुभव करता है। प्राणियों के हृदय में निवास करने वाला आत्मा, अन्य कुछ नहीं है। वह तो दिव्य चैतन्य परमात्मा का ही एक अंश है।^१

जीवों के भीतर विद्यमान सत्-चित्-आनन्द तत्त्व उस अखण्ड परमात्मा के ही विविध पक्ष हैं। ब्रह्म स्वरूपतः सच्चिदानन्द है। उसी की अंशभूत जीवात्मा अनेक होते हुए भी उससे भिन्न नहीं हैं। प्राणि शरीर के भीतर हृदयस्थ आत्मा तथा अतिशय रूप से सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में विद्यमान एक ही तत्त्व है। दोनों ही रूपों में यह पूर्ण है। परमात्मा समष्टि रूप में जितना पूर्ण है उतना ही वह व्यष्टि रूप जीवात्माओं के रूप में भी अखण्ड एवं पूर्ण है। जिस प्रकार अखण्ड आकाश घट के भीतर पड़ने पर घटाकाश के रूप में संकुचित होकर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु घड़े के भग्न हो जाने पर वह पूर्णाकाश से किंचित् भी भिन्न नहीं होता है, उसी प्रकार शरीरस्थ जीवात्मा के भीतर भी परमात्मा का अंशत्व माना गया है। वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों अखण्ड, अनन्त और एकमात्र तत्त्व हैं।

परमात्मा का जीवात्मा के रूप में जगत् में कार्य करना ब्रह्म का स्वभाव है, उसकी लीला है। अपने मूल स्वरूप में तो वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और निर्विकारी है। इसलिए वह जन्म-मृत्यु से भी सर्वथा परे है। जन्म-मृत्यु तो शरीर का धर्म है। आत्मा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आत्मा सदैव चैतन्य, अजर, अमर और निर्लेप है। जगत् में जीवात्मा की सत्ता वस्तुतः ब्रह्म की ही सत्ता है। ब्रह्म जितना अपने अखण्ड निर्विकल्पक स्वरूप में शुद्ध सर्वव्यापी होता है उतना ही वह जीवात्मा की ब्रह्मत्व की अवस्था में भी।^१

जीवात्मा की अवस्था में होने पर ब्रह्म तत्त्व पर शरीर के जीवन, मृत्यु रोगादि धर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आत्मा तो स्वभावतः ही निर्विकारी और निर्विकल्पक है। आत्मा पर जीव के द्वारा विभिन्न धर्मों का आरोपण करना ही अविद्या है, जिसके कारण उसका मूल स्वरूप अज्ञानावृत्त होकर जीव के लिए अज्ञेय हो जाता है। जीव स्वयं अपने ही भीतर विद्यमान तत्त्व को इतर-इतर पदार्थों में देखने का प्रयास करता है जिसके फलस्वरूप अज्ञान का आवरण और विस्तृत होता चला जाता है।

श्री अरविन्द ने आत्मा के रूप में ही ब्रह्म को जीव के लिए ज्ञेय माना है। ब्रह्म का निर्विकल्पक स्वरूप तो अखण्ड, अनन्त, अज्ञेय तथा केवल “नेति नेति” है, इसलिए वह ज्ञान और अज्ञान दोनों की सीमा से सर्वथा परे है। आत्मा के परमात्मा का ही अंश होने के कारण आत्मज्ञान के द्वारा परमात्म तत्त्व स्वयं प्राप्य है। अतः श्री अरविन्द ने आत्मज्ञान को

ब्रह्मज्ञान की कुंजी माना है ।^१ ब्रह्म का स्वरूप बाह्य साधनभूत इन्द्रियादि के द्वारा सर्वथा अज्ञेय है । उसे जानने के लिए उसके सदृश ही अलौकिक साधनों का होना आवश्यक है ।

जीवों को क्रियाशीलता प्रदान करने वाली गूढ़ अलौकिक चेतना को देखकर ही जगत् को संचालित करने वाली किसी सर्वोच्च सत्ता का अनुमान किया जाता है । आत्म तत्त्व के कारण ही जड़ पदार्थों से निर्मित नश्वर शरीर चेतन प्रतीत होता है । वास्तव में शरीर के भीतर अपनी कोई चेतन शक्ति नहीं है । आत्म तत्त्व के कारण ही वह चेतन और क्रियाशील होता है । इसलिए आत्मा ब्रह्म सत्ता का बोधक होने के साथ ही ब्रह्मज्ञान का साधन भी है । जीवों के हृदय में विराजमान मूलतत्त्व का व्यष्टिगत ज्ञान आत्मा का ज्ञान है तथा आत्मा का समष्टिगत ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है ।

आत्मा का ज्ञान होने पर परमात्मा का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है, क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक ही हैं । जीव समुदाय के रूप में ब्रह्म अपने को ही अभिव्यक्त करता है । प्रत्येक शरीर के विविध स्वभाव और आकारों के फलस्वरूप आत्मा भी अनेक स्वरूपों वाला दिखाई देने लगता है । इस अनेकरूपत्व को केवल मानवीय आत्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है तथा अनुभूत किया जा सकता है ।^१

श्री अरविन्द एवं उपनिषद् जहाँ आत्मतत्त्व को मानवीय शरीर में स्थित आत्मा द्वारा श्रेय मानते हैं, मनोनुशासनम् में आचार्य तुलसी उस आत्मस्वरूप का अनावरण करने के लिए एकमात्र मन को ही अधिकारी समझते हैं । वे मानव विकास के तीन स्तरों को आत्मोदय के सोपान स्वरूप मानते हैं । प्रथम ऐन्द्रिक विकास स्तर से आरम्भ करके आत्मा के मानसिक विकास की यौगिक आसन, प्राणायाम आदि प्रक्रियाओं से मन का संयमन एवं निरोध करते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान की चरमावस्था ही मनोनुशासनम् की आत्म स्वरूप उपलब्धि है ।

ज्ञान की प्रारंभिक विकास की अवस्था में मानव को केवल इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान प्रतीत होता है, तत्पश्चात् विकास की द्वितीय अवस्था में साधक की ज्ञान प्रतीति का विषय मन होता है । यह मानसिक विकास की छः अवस्थाओं में से प्रथम अर्थात् मन की मूढावस्था है^६ जो पूर्णरूपेण मिथ्यादृष्टि, मिथ्या चरित्रमोह आदि वृत्तियों से आवृत्त रहती है । मन की इस अवस्था में योग साधना का बीजारोपण भी नहीं होता । मन की द्वितीय अवस्था में मन विक्षिप्त मानव की भाँति विचरणशील होता है, इसीलिए इसे विक्षिप्तावस्था कहा गया है ।^७ विक्षिप्तता की दशा में ही मानव मन कभी अन्तर्मुखी और कभी बहिर्मुखी होने लगता है । किन्तु पूर्णरूपेण न तो वह बहिर्मुखी होता है और न ही अन्तर्मुखी । इसीलिए मन की इस अवस्था को यातायात कहा गया है ।^८ इसी अवस्था से मानव मन में योगाङ्कुर उद्भूत होने लगते हैं और मन अपने लक्ष्य में स्थिर होने लगता है । इसे मन की श्लिष्टावस्था^९ कहा गया है । यही श्लिष्ट मन जब पूर्णरूपेण अपने लक्ष्य में लीन होने लगता है तो वह सुलीनत्व^{१०} की अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

इस अवस्था में मन आत्म प्रवृत्त होकर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होने लगता है। बाह्य आडम्बर छूटने लगते हैं। केवल आत्म तत्त्व में लीन मन पूर्णरूपेण लौकिक प्रतीतियों से निरुद्ध हो जाता है। यही मन की निरोधावस्था है।¹¹ इसके उपरांत साधक कल्पनाविमुक्ति एवं समत्व प्रतिष्ठित होकर आत्ममय हो जाता है। यही मोक्षावस्था है। मन पूर्णरूपेण आत्मा में विलीन हो जाता है। एक मात्र चैतन्य ही इस अवस्था में आलम्बन होता है।

श्री अरविन्द भी मुख्य रूप से योगसाधना के द्वारा ही मोक्षावस्था को संभव मानते हैं। वे मनोनुशासनम् में प्रणीत आत्मप्राप्ति की अवस्था से संभवतः आत्मोदय की ओर अग्रसर होते हैं, इसलिए वे ध्यानयोग को आत्मज्ञान की यज्ञ सप्तर्षि में अत्यन्त आवश्यक सोझान मानते हैं।¹² बुद्धि, मन, चित्त आदि पदार्थ तो स्वभावतः जड़ हैं। आत्मतत्त्व की शक्ति के कारण ही वे अपना यथेष्ट कार्य करने में सक्षम हैं। स्वाभावतः वे किसी शक्ति के अधिष्ठाता नहीं हैं। जड़ पदार्थ किसी प्रकार की क्रिया नहीं कर सकता है। आत्मा की चेतनता ही उनमें चैतन्य और क्रियाशीलता उत्पन्न करती है। आत्मा की तुलना में इनकी शक्ति आंशिक होती है। अतः ये अपने ही स्रोत स्वरूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने में सर्वथा अक्षम होते हैं।

ब्रह्म का ज्ञान आलौकिक साधनों द्वारा ही प्राप्य है। इसलिए बुद्धि उस सत्ता की ओर संकेत करती है किन्तु उस तक पहुँच नहीं पाती हैं। बुद्धि की बोधशक्ति स्वयं परमात्मा की चिन्मात्र शक्ति है। अतः उसका क्षेत्र संकुचित होता है। एकमात्र दिव्य तत्त्व आत्मा ही उस तत्त्व को जान सकता है। वही इस तथ्य का भी ज्ञाता होता है कि जगत् ब्रह्म की अनेक रूपात्मक अभिव्यक्ति है।¹³

श्री अरविन्द ने आत्मज्ञान के द्वारा परमात्मा के ज्ञान को स्वयमेव प्राप्य माना है किन्तु वे सीधे परमात्म ज्ञान को संभव नहीं मानते हैं। इस प्रक्रिया में योगी को आत्मप्राप्ति के विभिन्न सोपानों को पार करना पड़ता है। वे ब्रह्मज्ञान के लिए तीन सोपानों को आधार स्वरूप मानते हैं, जिनका गंतव्य ब्रह्मज्ञान है। श्री अरविन्द ने इन्हें आत्मा अथवा परमात्मा के तीन पहलू भी कहा है। इनमें प्रथम पहलू दिव्यात्मा का ज्ञान स्वज्ञान पर आधारित है। मन के अनुसार मानव द्वारा स्वयं 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करना ब्रह्मप्राप्ति का प्रथम सोपान है। मुमुक्षु द्वारा सत्पदार्थों का आत्मा में दर्शन करना द्वितीय सोपान है। तृतीय अवस्था में साधक सत् पदार्थों में आत्मा का ही दर्शन करता है। आत्मा का अखण्ड रूप में सर्वव्यापक दर्शन ही ब्रह्मज्ञान का चरम सोपान है।¹⁴

ज्ञान के तीन स्तरों के आधार पर श्री अरविन्द ने मुक्त पुरुषों को भी तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम सोपान पर आरूढ़ साधक को आत्मा का ज्ञान होने के कारण वह इस अवस्था के अन्त में जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का जीवन्मुक्त पुरुष संसार में अन्य अज्ञानियों की ही भाँति रहता है। वह अपने कर्मों का निर्वाह करता है तथापि उसके द्वारा सम्पादित कर्म बंधनाधायक नहीं होते हैं। आत्मा बंधन और गुणों से सर्वथा परे होती है। इसलिए इसका ज्ञान होने के कारण वह भी अपने को आत्म रूप समझकर

समस्त बंधनों से परे रहता है। शरीर में रहते हुए अपने आत्मतत्त्व को जान लेना जीवन्मुक्ति है। वह एक शरीर में स्थित होते हुए भी सभी शरीरों में एक ही आत्मा का दर्शन करता है जिससे वह मानव सुलभ दोषों से भी सर्वथा परे हो जाता है। अज्ञानी व्यक्ति अहंकारिक वृत्ति के वशीभूत एक जीव को दूसरे से भिन्न समझता है। तात्त्विक दृष्टि से सबके भीतर विद्यमान चेतन सत्ता एक ही है।¹⁵

जीवन मुक्ति के उपरान्त साधक ज्ञान की द्वितीय अवस्था अर्थात् बुद्धत्व की स्थिति में प्रवेश करता है। इसकी चरम परिणति की अवस्था में साधक प्रत्येक पदार्थ को आत्मा में समाया हुआ देखता है। जगत् का कोई भी पदार्थ उसे आत्मा से भिन्न प्रतीत नहीं होता है। इस अवस्था तक पहुँचते हुए साधक समस्त लौकिक बंधनों का त्याग कर चुका होता है तथा इस अवस्था की अन्तिम स्थिति तक वह बोध को प्राप्त हो चुका होता है। इस अवस्था में शरीर त्याग देने पर उक्त पुरुष पुनर्जन्म लेने के लिए स्वतन्त्र होता है। उसका जन्म अन्य अज्ञानियों की भाँति कर्मफल के वशीभूत न होकर उसकी इच्छा पर आधारित होता है। यदि वह लोककल्याणार्थ किसी अवतार की भाँति जन्म लेता है तथा अपने शरीर के आवश्यक धर्मों का निर्वाह करता है तब भी वह किसी प्रकार के कर्मबंधन में नहीं पड़ता है। वह सभी कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पण और त्याग के भाव से करता है। वह ईश्वर के द्वारा ही प्रत्येक कर्म का सम्पादन मानता है तथा स्वयं को ईश्वर के कर्तृत्व का एक साधन मात्र समझता है।

श्री अरविन्द से पूर्व किसी भी अद्वैतवेदान्ती ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया है। वे सब मुक्ति के बाद अतिशय आनन्द के रूप में आत्मा की एक शून्यावस्था की कल्पना करते हैं। श्री अरविन्द आत्मज्ञानी को केवल अपने लिए ही नहीं, अपितु अन्य अज्ञानियों के लिए भी उपयोगी मानते हैं। ज्ञानी-मुक्त पुरुष का जीवन अन्य अज्ञानियों से सर्वथा भिन्न तथा दोषरहित होता है। आत्मैक्य दर्शन के कारण वह मानवदोष-लोभ, मोह, क्रोध, राग, द्वेष आदि से सर्वथा परे होता है।

द्वितीय अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त यदि जीवन मुक्त पुरुष संसार में अवतरित होना नहीं चाहता तो इसके लिए भी वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। ये दोनों ही अवस्थायें शरीर में वर्तते हुए जगत् में ही प्राप्त की जा सकती हैं। ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था लय की अवस्था है। इसके लिए जीवन मुक्त साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। बोध प्राप्त जीवात्मा को मृत्यु के उपरान्त यह स्थिति स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में परमात्मा और आत्मा दोनों एक हो जाते हैं। मूलतः भी दोनों एक ही हैं। विलय को प्राप्त आत्मा स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। यही मानव जीवन का प्रमुख ध्येय तथा जीव की परम गति है।

शरीर में रहने पर आत्मा में तात्त्विक दृष्टि से कोई परिवर्तन अथवा विकार उत्पन्न नहीं होता है। पुरुष के द्वारा स्वयं को समझ लेना ही आत्मज्ञान है। इसलिए ज्ञान-अज्ञान का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अनेक शरीरों में रहने पर भी आत्मा एक ही रहती है। वह

ब्रह्मज्ञान की अवस्था के समान ही जगत् रूप अभिव्यक्त दशा में भी अखण्ड, असीम, निर्विकारी ही रहता है।

एकमात्र आत्मतत्त्व के द्वारा ही संसार में एकत्व दिखाई देता है। प्राणियों के बीच आत्मतत्त्व की व्यापकता के कारण ही उनमें एकरूपता का दर्शन होता है। आत्मा एक समय में एक व्यक्ति के भीतर तथा समष्टि रूप से समस्त जगत् में व्याप्त रहती है। दोनों अवस्थाओं में आत्मा अपने एकत्वादि स्वरूप से भलीभाँति परिचित होता है। आत्मा बहुरूप अभिव्यक्त होने पर भी परमतत्त्व परमात्मा से अपने को पृथक् नहीं समझती है।

एक पुरुष के भीतर निहित आत्मा एकत्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी बहुत्वाभिव्यक्ति का अनुभव करता है। आत्मा के कारण ही जगत् में जीवात्माओं के मध्य अलौकिक एकरूपता होती है। शरीर भेद से आत्मा का स्वरूप प्रभावित होता है।¹⁶

व्यावहारिक रूप में आत्मा का दर्शन कर्ता, भोक्ता, विकारी के समान होता है। यद्यपि यह तथ्य सर्वविदित है कि आत्मा परमात्मा दोनों एक ही तत्त्व हैं। इस तथ्य को श्री अरविन्द ने स्पष्ट रूप से समझाया है। उन्होंने भी अन्य वेदान्तियों के समान आत्मा-परमात्मा का एकत्व स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने आत्मा के व्यावहारिक पक्ष और सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए आत्मा के द्विरूपत्व की अद्भुत कल्पना की है। जगत् में किसी पुरुष विशेष के सत्यवाचन, प्रेम, सहिष्णुता, दया, सहानुभूति गुणों को उसकी आत्मा की विशेषताएँ मान लिया जाता है। यद्यपि गुण और अवगुण दोनों ही प्रकृति में त्रिगुणात्मक स्वरूप के कारण दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मा से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है।

जिस शरीर में सत्वगुण की अधिकता होती है वह मानवीय गुणों से सम्पन्न तथा तमोगुण की प्रधानता वाला व्यक्ति तामसिक वृत्ति के कारण निर्दयता, असहिष्णुता आदि दुर्गुणों से युक्त दिखाई देता है। वस्तुतः आत्मा से गुणों अवगुणों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तो स्वरूपतः ही निर्गुणी, निर्विकारी तथा सर्वव्यापक है।

श्री अरविन्द ने आत्मा के निर्विकारी स्वरूप का ही द्विरूप मानकर इन गुणों-अवगुणों का भी तारतम्य आत्मा से जोड़ दिया है। प्रथम रूप व्यावहारिक आत्मा व्यक्ति की मानसिक अथवा अवयवी आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य करता है। यह आवेगों, सौन्दर्य भावना, मानसिक शक्तियों, ज्ञान, प्रसन्नता आदि के अनुसार कार्य करता है। आत्मा का द्वितीय रूप अन्तर्निर्गूढ तत्त्व है जो प्रकाश की शुद्ध शक्ति है, प्रेम, आनन्द आदि मानवीय गुणों की शुद्ध चैतन्यावस्था है, वही वास्तविक आत्मा है। इसी को व्यवहार में 'आत्मा' नाम से जाना जाता है।¹⁷ यद्यपि मानवीय गुणों की अधिकता अथवा कमी का मूल कारण प्रकृति का त्रिगुणात्मक स्वरूप ही है तथापि आत्मज्ञानी व्यक्ति सभी प्राणियों में स्वयं अपनी ही आत्मा का दर्शन करता है। इसलिए उसके भीतर दया, सहिष्णुता, प्रेम आदि गुण स्वाभाविक रूप से

प्रकट हो जाते हैं। एकत्व दृष्टि के कारण वह सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन करता है। घृणा, द्वेष, जुगुप्सा आदि सभी भाव द्वैत के कारण उत्पन्न होते हैं किन्तु जिसे सर्वत्र आत्मा ही दिखाई देता है वह किससे घृणा अथवा जुगुप्सा करेगा? आत्मतत्त्व के प्रबुद्ध हो जाने पर जीवनमुक्त पुरुष अलौकिक आनन्द में निमग्न रहते हुए किसी भी पदार्थ में द्वैत नहीं देखता है। अहंकार के नष्ट हो जाने के कारण वह अहंकारजनित विकारों से सर्वथा परे हो जाता है।

अन्य वेदान्तियों की अपेक्षा श्री अरविन्द ने आत्मा के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। परमतत्त्व आत्मा तो अलौकिक अनिर्वचनीय स्वरूप वाला है, अतः वह मनुष्य के लिए अज्ञेय है। आत्मा के व्यावहारिक पक्ष के रूप में श्री अरविन्द ने वस्तुतः आत्मज्ञानी के सामाजिक जीवन तथा व्यवहार को ही स्वीकार किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. चेतनावद् द्रव्यं आत्मा। ज्ञानदर्शन सहजानन्द सत्यवीर्याणि तत्स्वरूपम्। मनोनुशासनम् 1.5-6
2. Our soul, the secret indwelling psychic entity is a portion of the Divine consciousness and essence.
Sri Aurobindo. The Life Divine, p-388
3. The Existence of such a soul would be always self contained in the conscious play of Sachehidananda. It would be pure and infinite self existence in its being, in its becoming would be a free play of immortal life univaded by death and birth and change of body.
Sri Aurobindo, The Life Divine, p-151
4. The position has already been quite definitely taken that the transcendent self in man is identically the same as the transcendent self in the universe and that this identity is the one great key to the knowledge of Absoulte Brahman.
Sri Aufobindo. The upanlshads, p-11
5. Brahman maifests himself in each of these universe-----And in each of these manifestation He can be known and realised by the Spirit of man.
Sri Aurobindo. Teh Upanishads, p-11
6. दृष्टिचरित्रमोह - परिव्याप्तं मूढम्। अनर्हमेतद् योगाय। मनोनुशासनम् 2-2-3
7. इतरत्ततो विचरणशील विक्षिप्तम्। मनोनुशासनम्-2.4
8. कदाचिक्तः कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम्। मनोनुशासनम्-2.5
9. स्थिरं श्लिष्टम्। मनोनुशासनम्-2.8
10. सुस्थिर सुलीनम्। मनोनुशासनम्-2.9
11. निरालम्बनम् केवलमात्मपरिणतं निरूद्धम्। मनोनुशासनम्-2.13

12. But the practice of mediation is not the true solution of the problem (though it be quite necessary at the beginning to give the push) because we shall attain perhaps a relative silence.
The Adventure of consciousness, p-36
13. The intellect tells us—the Divine soul living in the truth of things would, on contrary always have conscious sense of itself as a manifestation of the Absolute.
Sri Aurobindo. The Life Divine, p-153
14. For these three are aspects of the one existence. The first is based upon that self knowledge which, in our human realisation of the Divine—the second on that which is, described as seeing all existence in the Self, the third on that which is described as seeing the self in all existences. The self becoming all existence in the basis of our oneness with all.
Sri Aurobindo. The Life Divine, p-154
15. The first stage is well within the possible experience of man and from it man return to be a Jivankukta, who lives and is yet realised in his inner self from the bondage of phenomenal existence. The second stage once reached, man does not ordinarily return unless he is a supreme Buddha or perhaps as a world Avatar from the third stage none returns, nor is it attainable in the body.
Sri Aurobindo. The Upanishads, p-1
16. Our unity with world being is the consciousness of the self, ---- which at once and the same time cosmicises in the world and individualise through the individual Purusha, and both in that world being and in this individual being and in all individual beings it is aware of the same, self manifesting and experiencing its various manifestation. That then is a self which must be one in its being— otherwise we could not have this experience of unity.
Sri Aurobindo. The Life Divine, P-369
17. So too we have a double psychic entity in us the surface desire soul which works in our vital cravings our emotions, aesthetic faculty and mental seeding for power, knowledge and happiness and a subliminal Psychic entity a pure power of light, love, joy and refined essence of being which is our true soul behind the outer form of Psychic existence we so often dignify by name.
Sri Aurobindo. The Life Divine, p-220

उप-सचिव

विश्व विद्यालय अनुदान आयोग
नई दिल्ली, 110002

वृद्धावस्था तथा मृत्यु क्यों आते हैं ?

— डॉ. अनिलकुमार जैन

युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था तथा इसके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होना, यह जीवन का एक अनविर्य अंग है। हमारे अनेक ऋषिमुनियों ने सदा युवा बने रहने तथा मृत्यु को टालने के कई प्रयत्न किये, लेकिन वे भी इन दोनों से बच नहीं सके। वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में अपने प्रयास जारी रखे हैं। इसी का परिणाम है कि विश्वभर में मनुष्य की औसत आयु तो बढ़ी है। भारत में भी आजादी के समय औसत आयु मात्र 30 वर्ष थी, जो कि अब बढ़कर 56 वर्ष हो गई है। लेकिन इसके बावजूद भी वैज्ञानिकों के सामने ये प्रश्न चुनौती बनकर खड़े हुये हैं कि आखिर वे क्या कारण हैं जिनकी वजह से वृद्धावस्था तथा मृत्यु आती है। इन प्रश्नों के समीचीन उत्तर की तलाश जारी है।

वृद्धावस्था के लक्षण-

बहुकोशीय प्राणी जैसे ही पूर्ण वयस्क हो जाता है तथा प्रजनन की क्षमता को प्राप्त कर लेता है, बुढ़ापा प्रारंभ हो जाता है। अधिकतर स्तनधारी जीव जितने जल्दी वयस्क होते हैं, उनका आयुष्य उतना ही कम होता है।

स्तनधारी जीव	वयस्क होने का काल	आयुष्य (वर्ष)
मनुष्य	13 वर्ष	70
सिंह	2 वर्ष	23
भालू	30 माह	20
बिल्ली	10 माह	15
कुत्ता	7 माह	15
बन्दर	3 वर्ष	13

यद्यपि मात्र एक ही ऐसा लक्षण नहीं है जिसके प्रगट होने पर बुढ़ापा आना मान लिया जाए। बुढ़ापा प्रारम्भ होने के साथ ही अनेक लक्षण दिखने लगते हैं। मसलन् शरीर में वसा कम हो जाती है जिसके कारण शरीर की त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, पिगमेंट मेलानिन की कमी होने के कारण बाल सफेद हो जाते हैं, रक्त में कैल्स्ट्रोल की मात्रा तथा रक्तचाप बढ़ जाता है जिसके कारण हार्ट-अटैक आ जाता है, ग्लूकोस की सहन-क्षमता कम हो जाती है और इन्सूलिन-प्रतिरोध बढ़ जाता है जिसके कारण डायबिटीज जो जाती है। आँख के अन्दर उपस्थित द्रव का दबाव बढ़ जाता है जिसके कारण मोतिया-बिन्द एवं ग्लूकोमा हो जाता है तथा नजर कमजोर पड़ जाती है। शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है, जिसके कारण इन्फेक्शन होने का डर बना रहता है। कैल्शियम की कमी हो जाती है जिसके कारण हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं। मांस-पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिसके कारण कमजोरी आ जाती है। स्मरण-शक्ति, सुनने, सोचने तथा सीखने की क्षमता भी क्रमशः घटती चली जाती है। पाचन-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। नींद आना कम हो जाता है।

यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि वृद्धावस्था में मनुष्य की लम्बाई पौन इञ्च तक कम हो जाती है तथा मनुष्य के मस्तिष्क का वजन बीस प्रतिशत तक कम हो जाता है। युवा मनुष्य के मस्तिष्क में लगभग एक खरब कोशिकायें होती हैं। इनमें से प्रतिदिन लगभग एक लाख कोशिकायें नष्ट होती रहती हैं और हमें इसका आभास तक नहीं हो पाता है।

डॉ. मैक्से के प्रयोग-

जितना कुछ ऊपर कहा गया। यह सब वृद्धावस्था के होने पर क्या होता है, इसकी जानकारी तो देते हैं लेकिन यह सब क्यों होता है, इसकी जानकारी नहीं मिल पाती है। कुछ वैज्ञानिक खान-पान को भी वृद्धावस्था का एक कारण मानते हैं। कॉर्नेल युनिवर्सिटी के वैज्ञानिक डॉ. सी.एम. मैक्से के प्रसिद्ध प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि दुबला-पतला चूहा मोटे चूहे को दफन करता है। सामान्यतः एक चूहा चार माह में पूर्ण विकसित हो जाता है, दो साल तक वयस्क रहता है तथा तीन साल में मर जाता है। डॉ. मैक्से ने चूहों के दो वर्ग बनाये। एक वर्ग को खूब अच्छा-अधिक कैलोरी एवं प्रोटीन युक्त भोजन खिलाया तथा दूसरे वर्ग को कम कैलोरी युक्त भोजन, विटामिन तथा मिनरल पर ही रखा। उसने अपने प्रयोग में पाया कि पहले वर्ग के चूहे चार माह से पूर्व ही पूर्ण विकसित हो गये तथा अपनी औसत आयु में ही मर गये जबकि दूसरे वर्ग के चूहों को पूर्ण विकसित होने में तीन वर्ष तक का समय लग गया तथा वे काफी जीवित भी रहे। अपने प्रयोगों में डॉ. मैक्से यह सिद्ध कर पाये कि यदि मनुष्य मिनरल और विटामिन को ही अपनी खुराक बना ले तो वह 100 से 150 वर्ष तक जीवित रह सकता है।

इन प्रयोगों से इतना तो सिद्ध हुआ कि मनुष्य अपना आयुष्य थोड़ा बढ़ा सकता है, लेकिन मृत्यु को फिर भी नहीं टला जा सकता है।

मनुष्य का शरीर एवं यांत्रिक मशीन-

मनुष्य का शरीर भी एक यांत्रिक मशीन की तरह से है। जिस प्रकार एक यांत्रिक मशीन में अनेक कल-पुर्जे होते हैं तथा मशीन के इस्तेमाल के साथ-साथ कुछ पुर्जे पुराने पड़ जाते हैं तथा खराब हो जाते हैं। यदि इन पुर्जों को बदल दिया जाए तो फिर से मशीन पूर्ण क्षमता के साथ काम करने लगती है और यदि कल-पुर्जे बार-बार खराब होने लगे तथा बार-बार उन्हें बदलने में अधिक मेहनत लगे तो मशीन को बदल देना ही ठीक समझते हैं। प्रकृति में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है।

मनुष्य का शरीर अनेक कोशिकाओं, तन्तु तथा अंग-प्रत्यंगों से मिलकर बना होता है। इन सबकी अपनी-अपनी एक आयु होती है। पूर्ण वयस्क मनुष्य के शरीर में लगभग सौ खरब कोशिकायें होती हैं जिनमें से अनेक मरती रहती हैं तथा नयी बनती रहती हैं। श्वेत-रक्त कोशिकायें तेरह दिन, लाल-रक्त कोशिकायें 120 दिन तथा लीवर की कोशिकायें 18 माह तक जीवित रहती हैं। तन्तु की कोशिकायें तो सौ वर्ष तक जीवित रहती हैं। अन्य कोशिकाओं का तो पुनर् उत्पादन होता रहता है, लेकिन तन्तु कोशिका का पुनर् उत्पादन नहीं होता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में स्थित विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की आयु भी अलग-अलग होती है। मनुष्य का स्वयं का औसत आयुष्य तो मात्र 70 वर्ष ही होता है जबकि उसकी आँख की औसत आयु 125 वर्ष होती है।

वृद्धावस्था में नयी कोशिकाओं का उत्पादन बन्द हो जाता है तथा पुरानी कोशिकायें अपनी आयु पूर्ण करने के उपरान्त मर जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य के अंग-प्रत्यंग शिथिल होने लगते हैं तथा अनेक प्रकार की व्याधियाँ पैदा हो जाती हैं। जब ये व्याधियाँ एक साथ इकट्ठी हो जाती हैं तो प्रकृति मनुष्य को उठा लेती है अर्थात् मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

वृद्धावस्था का मूल कारण-

वृद्धावस्था एवं आयुष्य के संबंध में अलग-अलग वैज्ञानिकों ने अलग-अलग सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक कोशिका निरन्तर कुछ मुक्त-रेडिकल्स पैदा करती रहती हैं जो कि शरीर में इकट्ठे होते रहते हैं। लेकिन शरीर के अन्दर एन्जाइम होते हैं जो इन मुक्त रेडिकल्स को नियंत्रण में रखते हैं। जब ये रेडिकल्स नियन्त्रण के बाहर हो जाते हैं तो कोशिकाओं को नुकसान पहुँचाते हैं तथा अवाञ्छनीय प्रोटीन का निर्माण करते हैं। इनसे कोशिकायें नष्ट होने लगती हैं तथा नयी कोशिकायें बन नहीं पाती हैं और अन्ततः बुढ़ापा और फिर मृत्यु आना अवश्यंभावी है।

प्रत्येक कोशिका में गुणसूत्र होते हैं तथा ये गुणसूत्र डी.एन.ए. नामक रसायन से बने होते हैं। वैज्ञानिकों ने खोज की है कि प्रत्येक डी.एन.ए. के अन्त में टैलोमर होते हैं।

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—जून, 2004

अधिकतर कोशिकायें द्विभिभाजन द्वारा अपनी वृद्धि करती हैं। प्रत्येक विभाजन में टैलोमर छोटा होता चला जाता है। जब कोशिका विभाजन एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाता है तो यह टैलोमर कोशिका विभाजन पर निरन्तर नजर रखता है।

जीन की खोज ने वैज्ञानिकों के विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये हैं। ये जीन डी.एन.ए. पर स्थित होते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि मनुष्य के वृद्ध होने एवं आयुष्य से संबंधित सभी सूचनाएं इन जीनों पर ही लिखी होती हैं। कब कोशिका-विभाजन को बंद होना है, कब टैलोमर समाप्त होना है, आदि ये सारी सूचनाएं इन्हीं जीनों पर लिखी होती हैं। वैज्ञानिकों ने कुछ जीन तो ऐसे खोज निकाले हैं जिनका सीधा संबंध आयुष्य से है। सी. एलिंगन नामक बैक्टेरिया के एक ऐसे जीन को खोजा जा चुका है जिसे यदि निष्क्रिय कर दिया जाए तो उस बैक्टेरिया की आयु बढ़ जाती है।

इतनी खोजों के बावजूद भी अभी वैज्ञानिक पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाये हैं। आज इनका मानना है कि जीन भी आयुष्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेकिन सारा नियंत्रण इनके पास नहीं है। लगभग 35 प्रतिशत आयुष्य की वजह जीन है लेकिन शेष वातावरण, खान-पान आदि पर निर्भर करता है।

कर्म-जीन का नियंत्रक

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि जीन बुढ़ापा एवं मृत्यु दोनों में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जीन ही ये दिशा निर्देश करते हैं कि कब व्यक्ति को वृद्ध होना है तथा कब उसकी मृत्यु होनी है यानि कि उसका आयुष्य कितना है ? ये जीन वंशानुगत चलते रहते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि इस जीन का नियंत्रण किसके पास है ? वह कौन-सा कारण है जो जीन को निर्देश देता है ? विज्ञान में इन प्रश्नों के उत्तर नहीं खोजे जा सके हैं, लेकिन इनके उत्तर भारतीय दर्शनों में परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि मोटी से मोटी दीवाल को भी भेद कर पार निकल जाते हैं। ये कर्म प्रत्येक जीव के साथ जुड़े रहते हैं तथा ये ही तय करते हैं कि वृद्धावस्था कब आनी है तथा किसका कितना आयुष्य है। इन कर्मों में कुछ विशेष होते हैं जिन्हें आयुकर्म कहते हैं। ये आयुकर्म जीव के आयुष्य का निर्धारण करते हैं। आयुकर्म पूर्वभव (यानि कि पिछले जन्म) में ही जीव के साथ जुड़ जाते हैं। गति का निर्धारण भी कर्म के अनुसार होता है। ये कर्म ही जीन के नियंत्रक होते हैं तथा जीन इनके निर्देशों को आगे संप्रेषित करते हैं।

-बी-26, सूर्यनारायण सोसायटी,
विसत पेट्रोल-पंप के सामने,
साबरमती, अहमदाबाद-5

चली है रस्म कि कोई सर उठा के न चले

(भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारतीय शिक्षा व्यवस्था)

— निरंजन सहाय

‘ भारतीय शैक्षिक परिदृश्य के प्रति व्यापक रूप में उपेक्षा का रवैया अपनाया गया है। इस उपेक्षा ने भारतीय शिक्षा को, सूचना विस्फोट के इस युग में भी ज्ञान, शोध, रचनात्मकता और अद्यतन स्थापनाओं से सम्पन्न नवीन ग्रहणशीलता जैसी उसकी बुनियादी विशेषताओं से महरूम कर दिया है। इस भयावह और निराशाजनक परिदृश्य में मात्र बदलाव से जटिलताएँ हल नहीं होंगी, बल्कि उनमें आमूल चूल क्रान्तिकारी पहल करनी होगी। कृषि क्षेत्र में हरित-क्रान्ति की पहल ने नयी तकनीक के बल पर उच्चतम स्तर की उत्पादन क्षमता एवं संपन्नता हासिल की है, अब शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रान्ति करनी होगी ताकि नवीनतम सूचना एवं संचार तकनीक के बल पर स्वाधीनता, अद्यतन शैक्षिक उपलब्धियों का उपयोग विकास एवं संवर्द्धन हेतु संभव हो, बेशक यह पूरी तकनीक प्रतिस्पर्धात्मक एवं बाजार केन्द्रित होगी। अब कठोर कदम उठाने की अपरिहार्यता है, सुधारवादी रवैये से स्थितियाँ नहीं बदलेंगी।’ (Mukesh Ambani, Kumarmangalam Birla-Report on a policy framework for reforms in education, Page No. 48, April 2000.)

‘अगर अम्बानी-बिड़ला की यह रिपोर्ट स्वीकार ली जाती है तो भारत की भावी शिक्षा का रूप स्पष्ट हो जाता है। सन् 2015 में देश के श्रमिक वर्ग के बच्चे (लगभग 63 प्रतिशत) कक्षा आठ तक ही शिक्षित हो पाएँगे और इनके पास मात्र साक्षरता का कौशल होगा। वे गरीब बच्चे वैश्वीकरण द्वारा पैदा की गई सूचना प्रौद्योगिकी व अन्य तकनीक का उपयोग करने वाले वैश्वीकृत श्रमिक बनेंगे। इन्हें बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ खरीदकर एक देश से दूसरे देश ले जाकर अपने कारखानों में

जोत सकेंगी। ठीक उसी प्रकार जैसे 18 वीं और 19 वीं शताब्दी में यूरोप और अमेरिका ने अफ्रीकी और एशियाई मजदूरों को गुलाम बनाकर खरीदा था। लगभग 31 प्रतिशत जो मध्यम वर्ग के होंगे, दसवीं या बारहवीं तक पढ़कर वैश्वीकृत बाजार में तकनीशियन बनेंगे और देश के मात्र 6 प्रतिशत बच्चे शिक्षा प्राप्त करेंगे। वे ही नयी प्रौद्योगिक का सृजन करेंगे और वैश्वीकृत बाजार में इस इंसानी पूंजी की कीमत बढ़-चढ़कर लगाई जाएगी। अंततः वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था पर विश्व-पूंजी की मालिक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वर्चस्व बरकरार रखने में यह शिक्षा-व्यवस्था मददगार होगी। तो यह है अम्बानी-बिड़ला द्वारा प्रस्तावित शिक्षा-व्यवस्था में छिपे वैश्वीकरण, नव ब्राह्मणवाद और नवमैकालेवाद का स्वरूप और यही है इसका लब्बोलुआब।' (अनिल सद्गोपाल, राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली 10 फरवरी 2001.)

26 नवम्बर 1949 ई. को भारतीय संविधान निर्माताओं ने भविष्य के 'खुशनुमा भारत' के स्वरूप को गढ़ने के लिए गैर बराबरी के किसी भी मानवताविरोधी सिद्धान्त को खारिज करते हुए जो महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए थे, आजादी के छप्पन साल बाद उस पर निगाह डालना जरूरी है, क्योंकि उसी के आलोक में निरन्तर परिवर्तित होते हुए सत्ता के नियामक तंत्र को गहरायी से समझा जा सकता है। उस शपथ पत्र में गौरवपूर्ण घोषणा की गयी थी कि 'हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण, प्रभुत्वसंपन्न, समाजवादी, पंथ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज 26 नवम्बर 1949 ई. को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'

जाहिर है भारत सामंतवादी-साम्राज्यवादी दुरभिसंधियों से मुक्त होकर एक बेहतर विकास की ओर बढ़ने के लिए संकल्प ले रहा था। चार दशक तक नियोजित अर्थव्यवस्था के तंत्र में भारत के विकास की दिशा तय हुई। लेकिन ढाँचागत बदलाव न कर पाने के कारण इस अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण उन्हीं हाथों में रहा जो नौकरशाही, विधायिका और न्यायपालिका की दुर्बलताओं का अपने हित में दोहन करने में माहिर थे, परिणामतः अधिकांश सरकारी उपक्रम घाटे में चले गए। व्यवस्था की असफलता विकराल रूप में सामने आयी और 'चार दशकों तक समाजवाद का नाम लेने वाले नीति निर्माताओं ने यकायक उल्टे घूम जाने का निर्णय लिया। इस मुद्दे पर जनादेश लेने की तो दूर, उन्होंने मतदाताओं को इसके लिए आगाह भी नहीं किया।

1991 में कांग्रेस की एक अल्पमत सरकार के वित्तमंत्री मनमोहनसिंह ने इन नीतियों की घोषणा करके दुनिया को ही नहीं, भारतवासियों को भी हैरत में डाल दिया। इन नीतियों का नियन्त्रण अब विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) के हाथों में है। नयी आर्थिक नीति ने भारतीय संविधान की मूल भावना यानि जनकल्याणकारी समान अवसर प्रेरित नीतियों को अलविदा कर दिया। 1 जनवरी 1995 से डंकल प्रस्ताव पूरी तरह लागू हो गया, उसके अनुसार शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सेवाएं भी व्यापार में शामिल कर ली गयीं। विश्व व्यापार संगठन की यह मंशा है कि इन क्षेत्रों में राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा निवेश हो। अब सरकार पर घोषित-अघोषित दबाव है कि शिक्षा जैसी बुनियादी जिम्मेदारियों से भी वह दूर हो, और सब्सिडी कम करते-करते उसे समस्त कर दे। केन्द्र सरकार ने शिक्षा के वर्तमान प्रारूप में आमूलचूल बदलाव के लिए मुकेश अम्बानी और कुमारमंगलम बिड़ला की समिति का गठन किया। इस समिति ने अप्रैल 2000 में अपनी सिफारिशों सरकार को सौंप दी। फिलहाल प्रधानमंत्री सलाहकार समिति द्वारा गठित इस समिति की अनुशंसाएँ विचाराधीन हैं। अनुशंसा की संस्तुतियाँ किस तरह व्यापक जन को उच्च शिक्षा की दुनिया से बेदखल करती हैं, इस पर विस्तारपूर्वक चर्चा आगे की जाएगी।

यहाँ सवाल यह उठता है कि क्या किसी भी संस्था या सरकार को बहुजन के श्रम से अर्जित मुनाफे या लाभ का अनुत्तरदायी विकास, जिसका लाभ केवल सुविधा सम्पन्न तबके तक पहुँचे, की छूट दी जा सकती है? सवाल केवल यह नहीं है कि बाजार आधारित अर्थव्यवस्था सही है या सरकारी गतिविधियों द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था? सच तो यह है कि दोनों तरह की अर्थव्यवस्थाओं का चरित्र सन्दर्भ-निर्भरता से ही तय होगा। शिक्षा जैसी जनकल्याणकारी दुनिया को मुनाफे के तात्कालिक दर्शन से जोड़ना अतार्किक, अदूरदर्शी और विडम्बनापूर्ण होगा जो अपनी जद में पूरी व्यवस्था को समाहित कर लेगा। अर्थशास्त्री ज्यां ड्रीज और अमर्त्य सेन पूर्वी एशिया के देशों से भारत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए यह मानते हैं कि चीन जैसे देश में -शिक्षा जैसे मूलभूत जनकल्याणकारी क्षेत्र में सरकारी ध्यान ने उसे तेजी से विकसित किया है। भारत को लोकतंत्र तो बनाए रखना चाहिए परन्तु सामाजिक अवसर प्रदान करने वाले सभी कार्यक्रम अविलम्ब आरम्भ कर देने चाहिए। पहले से ही अनेक विडम्बनाओं और ध्रुवांतों में विभाजित भारतीय व्यवस्था केवल उदारीकरण से समतामूलक लक्ष्य हासिल नहीं कर सकती। मात्र उदारीकरण एवं नियन्त्रण तंत्र में ढील देने पर मौलिक नीतिगत सुधार पिछली आयोजन व्यवस्था में रह गयी त्रुटियों को कभी दूर नहीं कर पाएँगे। बाजार व्यवस्था एवं सरकारी गतिविधियों द्वारा अर्थव्यवस्था के संचालन के सापेक्ष गुण-दोषों पर बहुत समय से चर्चा होती रही है, किन्तु दोनों ही प्रकार की निर्णय पद्धतियों की एक साझी विशेषता रही है, संदर्भ निर्भरता। अन्य शब्दों में किन्हीं विशेष संदर्भों में यदि बाजार बहुत ही लाभप्रद एवं कुशल प्रतीत होती है तो किन्हीं अन्य संदर्भों में सरकारी हस्तक्षेप के बिना अर्थतंत्र का तार्किक और सही तरीके से काम करना असंभव ही रहता है।

इसलिए सरकारी निर्णय पद्धति अथवा बाजार व्यवस्था दोनों में से किसी एक को ही 'श्रेष्ठ' कह पाना संभव नहीं रहता। कोई सरकार क्या कर सकती है अथवा क्या कुछ करेगी, यह बात किसी सीमा तक उस सरकार के अपने चरित्र एवं प्रकृति पर निर्भर करती है। यह दुर्भाग्य ही है कि आज भी दमन एवं उत्पादन की गाथाएँ मध्ययुगीन इतिहास की बर्बरता की तरह निर्मम और मनुष्यताविरोधी हैं।

आजादी के बाद एक बेहतर भारतीय समाज की संकल्पना को पूरा करने के लिए आरम्भ से ही विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं का सहारा लिया गया। दुःखद यह रहा कि राष्ट्रीय कार्यसूची में जो विभिन्न प्राथमिकताएँ तय होती रहीं, जैसे - औद्योगीकरण, कृषि आधुनिकीकरण व हरित क्रान्ति, ग्रामीण विकास, गरीबी हटाओं, उत्पादन बढ़ाओं, उनमें कभी भी शिक्षा को यह सौभाग्य हासिल नहीं हुआ। शिक्षा पर गठित विभिन्न आयोगों तथा 1986 में गठित राष्ट्रीय शिक्षा नीति की एक मूलभूत प्रस्तावना यह है कि शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद से प्राप्त आय का कम से कम छः प्रतिशत व्यय किया जाए। आदर्श स्थिति 10 प्रतिशत है। पंचवर्षीय और वार्षिक योजनाओं में हुए व्यय पर निगाह डालें तो केवल पहली पंचवर्षीय योजना में और तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस मानक का निर्वाह हुआ जब क्रमशः 7.86 प्रतिशत और 6.87 प्रतिशत राशि व्यय हुई। फिलहाल 1991-92 से लेकर अब तक की वार्षिक योजनाओं में केवल 1998-99 में यह प्रतिशत 5.8 रहा है और बाकी योजनाओं में 4 से 5 प्रतिशत राशि के मानक का ही निर्वाह हुआ। गौर करें तो, चाहे प्राचीन व्यवस्था हो या आजादी के बाद की नियोजित अर्थव्यवस्था हो या फिर बाजार आधारित अर्थव्यवस्था सबमें हैसियत प्राप्त उच्च वर्ग के लिए शिक्षा के बेहतरीन विकल्प तो उपलब्ध रहे पर आम आदमी एक हद तक बेहतरीन शिक्षा व्यवस्था से वंचित ही रहा। उदारीकरण के बाद स्थितियाँ बेहद विरूप यथार्थ में तेजी से तब्दील हो रही हैं, जिनकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उपस्थिति विद्यालयी शिक्षा, उच्च शिक्षा और विज्ञान प्रौद्योगिक शिक्षा जैसे क्षेत्रों में देखी जा सकती है। इस अध्ययन का उद्देश्य वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारतीय शिक्षा व्यवस्था का विश्लेषण करना है। सुविधा के लिए इस पूरे अध्ययन को चार भागों में विभाजित किया जा रहा है :-

1. समतामूलक व्यवस्था की अवधारणा बनाम उदारवाद
(ढाँचागत बदलाव और शैक्षिक परिदृश्य)
2. शिक्षाविदों का जमाना लद गया, उद्योगपति ही सलाहकार बनेंगे
(मुकेश अम्बानी, कुमार मंगलम बिड़ला रिपोर्ट का यथार्थ)
3. ये रोशनी हकीकत में एक छल है लोगों
(बुनियादी शिक्षा का शोर और अंतर्विरोधों की भयावहता)
4. म्हाने चाकर राखो जी
(उच्च शिक्षा में समग्रता और बहुजनहितायत की अवधारणा का निषेध)

1. समतामूलक व्यवस्था और बहुजनहितायता की अवधारणा का निषेध (ढाँचागत बदलाव और शैक्षिक परिदृश्य)

आधी शताब्दी पहले जब भारत स्वाधीन हुआ था, तब 14 अगस्त 1947 को अंग्रेजों के प्रस्थान की पूर्व संध्या पर जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, 'वर्षों पूर्व हमने नियति को मिलने का वचन दिया था और आज वह समय आ गया है जब हम अपना वह वचन पूरा करेंगे आज हम जिस उपलब्धि का उत्सव मना रहे हैं, यह तो उन महान् उपलब्धियों और मंजिलों, जो हमारा इन्तजार कर रही हैं, की ओर अग्रसर होने की दिशा में एक पहला कदम है- उस ओर चलने का मात्र एक पहला अवसर मिलता है।' इस मौके पर उन्होंने गैर बराबरी के प्रति देशवासियों को आगाह किया कि भारत में ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना की जाएगी, जहाँ किसी भी प्रकार की विषमता की खाई नहीं रहेगी। भारतीय संघ की जनकल्याणकारी नीतियों में यह रूपरेखा तय की गयी कि सरकार इस दायित्व का निर्वाह करे कि भारतीय जनता के लिए सरल, सस्ती और सुलभ शिक्षा उपलब्ध हो, जो मानवीय गुणों का विकास करे। लेकिन दुर्भाग्यवश दृढ़ इच्छा शक्ति के अभाव और सरकारी उदासीनता के कारण इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुयी। विकसित पश्चिमी देशों से तुलना न कर यदि तेजी से विकसित हुए एशियाई देशों जैसे -दक्षिण कोरियर, हांगकांग, थाईलैंड, चीन आदि से भारत के शैक्षिक परिदृश्य की तुलना करें तो हमें तलख हकीकतों का सामना करना पड़ता है।

अर्थशास्त्री ज्यां ड्रीज और अमर्त्य सेन ने आर्थिक नीतियों के बदलते परिदृश्य में भारतीय शिक्षा व्यवस्था का गहन अध्ययन किया है, और चुने हुए एशियाई देशों से तुलना करते हुए जो मूल्यवान निष्कर्ष दिए हैं, उन्हें प्रसंगवश उद्धृत किया जा सकता है।, 'यहाँ यह गौर करना खास महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आज के भारत में साक्षरता का दर तुलना किए गए देशों (दक्षिण कोरिया, हांगकांग, थाईलैंड, चीन) से निम्न स्तर का है या यह कि जिस समय इन देशों ने विकास की लम्बी छलाँग लगाई उस समय भारत उनकी तुलना में साक्षरता की दृष्टि से बहुत पीछे था। हम तो इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि आज भी भारत शिक्षा और साक्षरता के उस स्तर को नहीं पाया है जहाँ ये मुल्क अपनी विकास यात्रा को शुरू करने से ठीक पहले पहुँच चुके थे। आज के भारत और 1980 के कोरिया या फिर 1980 के चीन से तुलना करें तो इस कथन की सार्थकता और भी स्पष्ट होती है। इतने बरसों बाद भी हम उस साक्षरता स्तर तक नहीं पहुँच पाये हैं, जहाँ पर ये देश अपने बाजार आधारित आर्थिक विकास कार्यक्रम शुरू करने से पहले पहुँच चुके थे।

आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से उच्च उपलब्धियों से सम्पन्न एशियाई देशों में शिक्षा के प्रसार में सरकार ने ही मुख्य और आधारभूत योगदान दिया है। सार्वजनिक नीतियों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है कि समाज के अधिकांश युवा सदस्य पढ़ने, लिखने एवं आधुनिक तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—जून, 2004

औद्योगिक उत्पादन व्यवस्था में भागीदारी के अनुरूप संप्रेषण की योग्यता से सम्पन्न हों। इसके विपरित भारत में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के प्रति विचित्र सी उदासीनता दिखायी देती है। हम कह सकते हैं कि तथाकथित योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों के बावजूद इस क्षेत्र में सरकार 'बहुत अधिक हस्तक्षेप' नहीं 'बहुत कम योगदान' की दोषी रही है।¹⁴

दरअसल भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में ढाँचागत बदलाव हुआ ही नहीं, ऐसा भी नहीं था कि अवधारणाओं का अकाल था, बहुत पहले गाँधी के स्वराज दर्शन में बुनियादी शिक्षा और भारतीय शैक्षिक परिदृश्य पर विचार हुए थे। लेकिन मूलतः यथास्थितिवादी समर्थक मैकालेवादी शिक्षा पद्धति में हालांकि राष्ट्रीय शिक्षा-नीतियों के आलोक में थोड़े बहुत संशोधन भी हुए, पर कमोबेश इसने राष्ट्रीय और लोकोतांत्रिक मूल्यों का धीरे-धीरे हास ही किया और व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के कौशल को समृद्ध किया। इसी बीच 1 जनवरी 1995 से डंकल प्रस्ताव के लागू होने के उपरांत यह सहमति बनी कि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए सार्वजनिक व जनहित क्षेत्रों में दी जाने वाली सब्सिडी को धीरे-धीरे कम करते हुए समाप्त कर दिया जाए। इसके लिए विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने ढाँचागत समायोजन के कार्यक्रम चलाए। एक प्रावधान यह भी रखा गया कि कोई भी सरकार विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत आने वाले विषयों के संदर्भ में देशों और विदेशी कम्पनियों के साथ एक तरह का रवैया अपनाएगी। चालीस से भी अधिक देशों ने शिक्षा को निजी क्षेत्रों के लिए खोलने की बात की है।

इन सारी प्रक्रियाओं, सुनियोजित षडयंत्र के तरीकों द्वारा अंजाम दिया गया। शिक्षा-जगत की हलचलों और बदलावों पर जागरूक और चौकन्नी दृष्टि रखने वाले विचारक सुरेश पंडित कहते हैं, 'तीसरी दुनिया के देशों की शिक्षा प्रणालियों को अपने कब्जे में लेकर राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन को अपने अनुरूप बदल डालने की साजिश 1990 में थाईलैंड के जोमतीन नगर में हुई कांफ्रेंस में रची गई। इसका आयोजन यूनिसेफ, यू एन डी पी, यूनेस्को तथा विश्व बैंक की पहल पर हुआ था। इसमें विकसित देशों की आत्मा अचानक द्रवित हो उठी थी और वे गरीब देशों के लोगों को 2000 तक शिक्षित कर देने के लिए उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने को उतावले हो उठे थे। विश्व बैंक, यूरोपीय समुदाय, ब्रिटिश ओवरसीज डेवलपमेन्ट एजेंसी (ओडी) और स्वीडिश इंटरनेशनल डेवेलोपमेन्ट असिस्टेंस (सीडा) जैसी दानदाता एजेंसियों ने तो अपने खजानों के दरवाजे इस काम के लिए खोलने की अभूतपूर्व तत्परता दिखा दी। जाहिर है, उनकी यह दयार्द्रता स्वतः स्फूर्त नहीं थी। वे यह सब एक दूरगामी निवेश के तौर पर कर रहे थे ताकि इनमें विकसित देशों के उत्पादों के लिए बाजार तैयार हो जाए और यहाँ के लोग उनके माल के उपभोक्ता बन जाए। उनकी सहायता की शर्तों में सर्वप्रमुख शर्त यह थी कि दान प्राप्त करने वाले देशों को उनकी

अमुक-अमुक वस्तुओं का आयात अनिवार्यतः करना होगा। भारत ने उनके प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया है और अब यहाँ के 176 जिलों में प्राथमिक शिक्षा उनकी योजना के अनुसार चल रही है और 66 जिलों में चलाने के लिए प्रयास हो रहे हैं।^१

इतने व्यापक स्तर पर विशेषकर प्राथमिक शिक्षा में जो अनुदान प्राप्त स्वैच्छिक संगठन दिलचस्पी ले रहे हैं, उसके प्रभाव बेहद घातक होंगे। फिलहाल दो संदर्भों को समझना जरूरी है। पहली बात यह कि शिक्षा के सार्वजनीकरण में कार्यरत संस्थाओं का सारा ध्यान परिमाणात्मक उपलब्धि पर केन्द्रित है, दूसरी बात यह कि ये जनता की आकांक्षाओं, उसके संघर्षों और सपनों को संजीदगी से नहीं लेते। वैश्वीकरण की गैरबराबरी के सिद्धान्तों के प्रति असहमत 'विश्व सामाजिक मंच' ने दुनिया भर के आर्थिक रूप से पिछड़े देशों का अध्ययन करते हुए, वहाँ कार्यरत स्वैच्छिक संगठनों (जो धनी देशों के अनुदान के बल पर कार्यरत हैं) के उद्देश्यों पर सवालिया निशान उठाया है। एक तरफ सरकारें जनविरोधी शिक्षा नीतियाँ बनाती हैं, दूसरी तरफ बहुराष्ट्रीय व्यवसाय प्रेरित सहायता संस्थानों की सहायता से कार्यरत एजेंसियों की भूमिका को बढ़ाया जा रहा। क्रूर यथार्थ यह है कि, 'कई सरकारें अपने बजट में जनता की जरूरतों के लिए जरूरी सेवाओं पर अपने खर्च में भारी कटौती करने के बावजूद किसी तरह जनतंत्र का मुखौटा बनाए रखना फायदेमंद मानती हैं। इस प्रक्रिया में गैर सरकारी संगठन राजसत्ता के निजी ठेकेदार की भूमिका निभाते हैं। जिसका फायदा यह है कि राज्य अपनी जिम्मेदारियों से छुटकारा पा लेते हैं। आम जनता गैर सरकारी संगठनों से अधिकार की मांग नहीं कर सकती - जनता तो उनसे सिर्फ 'दान' की उम्मीद कर सकती है।^१

भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा शैक्षिक संस्थानों को दिए गए अनुदानों में कटौती जारी है। जैसे मध्यप्रदेश में उदारवाद के तहत बीस प्रतिशत की दर से अनुदान में कटौती शुरू हुई। इसे पांच साल में शून्य होना था। विधानसभा में बिना कोई बहस किए इस विधेयक को पारित कर दिया गया। इस कटौती के विरोध में शिक्षक संगठन उच्च न्यायालय में गए और सरकार वहाँ हार गयी, अब यह मामला उच्चतम न्यायालय में विचाराधीन है। अब बरसों से अनुदान पा रहे वे शैक्षिक संस्थापन जो दूर-दराज के इलाकों में अपना दायित्व निभा रहे थे, उनका अस्तित्व ही संशयग्रस्त हो चला है। फिलहाल अध्यापकों की सारी वेतनवृद्धियाँ रोक दी गयी हैं और वेतन का भी केवल पचास प्रतिशत दिया जा रहा है। अन्य राज्यों में भी कमोबेश यही स्थितियाँ आने वाली हैं, नियुक्तियाँ कई बरसों से बन्द हैं ही। एक पुरानी कहावत का सहारा लें तो बकरे की माँ तक खैर मनाएगी। आन्दोलनरत अध्यापकों को मात देने के लिए माहिर सत्ता ने खेल खेला। पहले अल्पसंख्यक, फिर महिला, फिर हरिजन आदिवासी संस्थाओं को पूरा अनुदान देने की घोषणा कर आन्दोलन को कमजोर कर दिया गया। अध्यापक मनोहर बिल्लौरे की वेदना और उनके सवाल भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में

भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समझने में सहायक है। वे पूछते हैं, 'अब आप ही बताएँ - आप अल्पसंख्यक संस्था किसे मानेंगे - उसे, जिसका मैनेजमेंट भर अल्पसंख्यक है। एक अल्पसंख्यक अध्यापक सामान्य संस्था में आधा-अधूरा वेतन पाएगा और दूसरा सामान्य अध्यापक अल्पसंख्यक संस्था में पूरा-पूरा। इसी तरह एक महिला अध्यापक पुरुष विद्यालय में आधा-अधूरा वेतन पायेगी और कोई पुरुष, महिला संस्था में पूरा-पूरा, वह भी भत्तों और अन्य सुविधाओं सहित। कैसे तय होगा यह मसला? हम सभी अशासकीय अनुदान प्राप्त शिक्षा संस्थानों के शिक्षक कर्मचारी प्रतीक्षारत हैं - न्याय पाने के लिए, जल्दी ही - देर से नहीं, देर से मिला न्याय - न्याय नहीं, अन्याय होता है - अन्याय। जो संविधान और न्याय की मूल मंशा नहीं है। क्या हमारी अभिव्यक्ति की सारी क्षमताएँ और हथियार यों ही भोंथरे होते जंग खा जायेंगे? यह प्रश्न हमें बेचैन करता है।'

2. शिक्षाविदों का जमाना लद गया, उद्योगपति ही सलाहकार बनेंगे (मुकेश अम्बानी, कुमार मंगलम बिड़ला रिपोर्ट का यथार्थ)

यह अप्रिय तथ्य है कि राजीव गाँधी सरकार ने जो नयी शिक्षा नीति तैयार की थी, उसके पीछे भी विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव सक्रिय थे। लेकिन उस नीति में आधारभूत मर्यादाओं का निर्वाह किया गया था और देश के शिक्षाविदों को ही यह काम सौंपा गया था, यही कारण है कि उदारीकरण के पहले तक शिक्षा का ताना-बाना जनविरोधी उस कदर नहीं हुआ था कि देश की बहुसंख्यक जनता ही उच्च शिक्षा, शोध और तकनीकी दुनिया से बाहर हो जाए। यह सच हमारी स्मृति में मौजूद है कि राजनीति ही नहीं, उद्योग और व्यापार की नीतियाँ भी विचारशील और शिक्षाविद् तय करते हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का दंभ भरने वाली भारतीय जनता पार्टी ने विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के हुक्म की तामील की और देश की भावी शिक्षा नीति को तैयार करने के लिए दो सदस्यीय शिक्षा समिति बनायी। समिति के सदस्य मुकेश अंबानी और कुमार मंगलम बिड़ला देश के जाने-माने उद्योगपति हैं। सरकार ने यह समझदारी दिखाना तो दूर कि शिक्षा जैसे जनकल्याणकारी और सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार की दिशा का निर्देशन शिक्षाविद् या विचारक करें। यह किया कि मुनाफे पर गिद्ध दृष्टि रखने वाले दो पूंजीपतियों को पूरी शिक्षा नीति बदलने के लिए मसविदा तैयार करने का निर्देश दिया। यह नैतिकता भी नहीं रही कि कम से कम कुछ बुद्धिजीवियों को भी समिति में सदस्य की हैसियत दी जाये। यह समिति अपनी स्थापनाओं में सन् 2015 तक भारतीय शिक्षा में पूरी तरह मूल्यों को अलविदा कर मुनाफाखोर वणिक् बुद्धि विस्तार को प्रश्रय देती है। समिति अप्रैल 2000 में अपना प्रतिवेदन सौंप चुकी है, जिसे लोकसभा में पारित होना है। जिस तरह पहले ही जनविरोधी शिक्षा नीतियाँ सरकारों द्वारा पारित होती रही हैं, उसके मध्यनजर इसकी पूरी आशंका है कि यह प्रतिवेदन भी संसद

पारित कर दे और उसकी अनुशंसाएं भारत में लागू हो जाए। यह प्रतिवेदन भारतीय शिक्षा में क्रान्तिकारी पहल की अनुशंसा करता है, शिक्षा अनिवार्यतः बाजारोन्मुखी हो, यह प्रतिवेदन की मंशा है। इस प्रतिवेदन के प्रमुख बिन्दुओं को यहाँ प्रसंगवश उद्धृत किया जा रहा है :-

1. “शैक्षिक कार्यक्रमों में प्राथमिक शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए और इसे सभी के लिए अनिवार्य और मुफ्त किया जाना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य हासिल करने के बाद माध्यमिक शिक्षा को भी 15 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए आवश्यक बनाया जाना चाहिए।

2. शिक्षकों के सतत् प्रशिक्षण एवं गुणवत्ता-विकास के लिए कानून बनाया जाना चाहिए।

3. सूचना प्रौद्योगिक तथा कम्प्यूटर नेटवर्क से युक्त स्मार्ट स्कूलों की स्थापना की जानी चाहिए। इस कार्य को राष्ट्रीय मिशन मानकर अंजाम दिया जाना चाहिए और भारत के प्रत्येक जिले में एक स्मार्ट स्कूल की स्थापना की जानी चाहिए। इस मिशन को पूरा करने की दिशा में कर-लाभ देकर निजी क्षेत्र को भारी निवेश के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

4. शिक्षकों की भूमिका को प्रोत्साहक एवं उत्प्रेरक के रूप में तब्दील किया जाना चाहिए तथा बच्चों को किताबों से पढ़ाने और लिखाई कराने के बदले अभ्यास एवं अनुभवों के जरिए शिक्षित करने पर जोर दिया जाना चाहिए। पढ़ाए जाने के बदले बच्चों को आज के सूचना युग में सूचना युग के बहुविध माध्यमों से सीखने देना चाहिए और शिक्षकों को इसमें मददगार की भूमिका निभानी चाहिए।

5. माध्यमिक और उससे ऊपर के विद्यार्थियों को आवश्यक व्यावसायिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

6. औपचारिक शिक्षा के विकल्प के रूप में दूरस्थ शिक्षा को महज पत्राचार की सीमा से निकालकर तकनीक के जरिए बढ़ावा दिया जाना चाहिए और इसके विदेशों से सीख लेनी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर यह स्वीकृत है कि बच्चों को अच्छा नागरिक बनाने के लिए शिक्षा में मूल्यों का समावेश होना चाहिए। मूल्यों की शिक्षा ही शिक्षा की सही परिभाषा है। दुर्भाग्य से भौतिक सुखों के पीछे भागने की प्रवृत्ति के चलते भारतीय समाज में युवा दिमाग मूल्यों की ओर विमुख हो गया है। साथ ही सार्वजनिक जीवन में आदर्श व्यक्तियों का अभाव है और भारतीय समाज में चरित्र का संकट दरपेश है। लिहाजा, अच्छे और नागरिकता से युक्त समाज बनाने के लिए यह जरूरी है कि पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में नैतिक शिक्षा पर जोर दिया जाना चाहिए और प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में भी इसे मजबूती से लागू किया जाना चाहिए। लेकिन इसके साथ यह सावधानी बरतनी होगी कि जाने या अनजाने विभिन्न वाद (छात्रों के दिमाग में) अपनी घुसपैठ न बना लें। स्कूल स्तर पर समान शिक्षा-

पद्धति लागू की जानी चाहिए लेकिन उसमें क्षेत्रीय एवं स्थानीय स्तर पर खासकर भाषा, इतिहास एवं सांस्कृतिक विविधता की संभावना रखी जानी चाहिए।

7. शिक्षा के प्रबन्धन को विकेन्द्रित किया जाना चाहिए। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा तथा साक्षरता कार्यक्रमों में वित्तीय एवं प्रबन्ध की जिम्मेदारी पंचायत और नगरपालिका स्तर पर होनी चाहिए।

8. व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए सैट, जी. आर. आई. एवं जीमैट की तर्ज पर राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षाएँ आयोजित की जानी चाहिए। साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण का आधार प्राप्तांकों को बनाया जाना चाहिए तथा इसके लिए माइग्रेसन सर्टिफिकेट (स्थानान्तरण प्रमाण-पत्र) की आवश्यकता को खत्म किया जाना चाहिए।

9. भारतीय शिक्षा व्यवस्था बाजारोन्मुख नहीं है। लिहाजा, शिक्षा को बाजारोन्मुख यानि सूचना प्रौद्योगिक-केन्द्रीय बनाया जाना चाहिए। आज के भारत की यही जरूरत है। शिक्षण संस्थानों में पाठ्यक्रम एवं सुविधाओं को निरन्तर नवीनतम बनाए रखना चाहिए।

10. सरकारी स्कूलों में भवन, टेलीफोन एवं कम्प्यूटर के लिए प्राथमिकता के आधार पर राशि मुहैया कराई जानी चाहिए। विश्वविद्यालयों को दी जाने वाली सरकारी वित्तीय सहायता कम की जानी चाहिए तथा उन्हें आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ाया जाना चाहिए। इन संस्थानों के पाठ्यक्रमों को भी समयानुकूल बनाया जाना चाहिए।

11. सरकार की भूमिका को प्राथमिक शिक्षा के लिए राशि प्रदान कर अनिवार्य बनाने, शत-प्रतिशत साक्षरता लाने, गैर-बाजारोन्मुखी शिक्षा, जैसे उदार और परफॉर्मिंग कलाओं की मदद करने व कोष प्रदान करने, छात्रों को कर्ज दिलाने में वित्तीय गारंटी देने, पाठ्यक्रम तथा उसकी गुणवत्ता में एकरूपता लाने तथा शैक्षिक विकास योजना बनाने तक सीमित किया जाना चाहिए। कोष मुहैया कराने वाली संस्था के रूप में यूजीसी की भूमिका समाप्त हो जानी चाहिए।

12. कम सरकारी सहायता पाने या नहीं पाने वाले संस्थानों का संचालन तथा पाठ्यक्रम चयन में कल्पनाशीलता की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

13. विज्ञान, तकनीकी, प्रबन्ध तथा वित्तीय क्षेत्रों में पढ़ाने के लिए निजी विश्वविद्यालय खोलने के लिए निजी विश्वविद्यालय अधिनियम बनाया जाना चाहिए।

14. वित्तीय उपक्रमों में स्तर-निर्धारण के लिए स्टैंडर्ड एंड पूअर्स या क्राइसिल जैसी संस्थाओं की तरह स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों या संस्थानों के स्तर को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र एजेंसियों द्वारा समय-समय पर उनकी रेटिंग कराई जानी चाहिए और उनका स्तर तय किया जाना चाहिए।

15. शिक्षा में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी जानी चाहिए। शुरु में इसे विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा तक सीमित किया जाना चाहिए।

16. प्राथमिक शिक्षा एवं साक्षरता के लिए शिक्षा विकास कोष की स्थापना कर उसमें दिए गए धन को आयकर से मुक्त किया जाना चाहिए। विदेशों छात्रों को आकर्षित करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

17. विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े बन गए हैं, लिहाजा सभी राजनैतिक पार्टियों में यह सहमति बनाई जानी चाहिए कि वे शिक्षा संस्थानों से दूर रहेंगे। कानून बनाकर शिक्षा संस्थानों में राजनैतिक गतिविधियों पर पूरी पाबंदी लगा देनी चाहिए।

18. ज्ञानी समाज की रचना अकेले शिक्षा के इनपुट से नहीं हो सकती। आर्थिक अवसरों का होना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। शिक्षा जरूरी है लेकिन वही पर्याप्त नहीं है। शिक्षा और ज्ञान को दिशा देने के अवसरों का सृजन भी जरूरी है। नए अवसरों को पोषण करने के लिए अर्थव्यवस्था को नियंत्रण से मुक्त करने की जरूरत है। ये नए अवसर, बदले में नई तरह की शिक्षा को संभव बनाएंगे। नए अवसर प्रतिभाओं के देश से बाहर जाने की प्रक्रिया को भी उलट देंगे। इस अर्थ में, शैक्षिक और आर्थिक सुधार एक-दूसरे को मजबूत बनाएंगे।

19. भारत में शोध बहुत एक हद तक अभिजात्यवादी अवधारणा है। आगामी वर्षों में अनुमादित औद्योगिक वृद्धि के मुद्देनजर स्नातक स्तर से ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में शोध को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

20. प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का दायित्व सरकार वहन करे और विज्ञान, प्रौद्योगिक तथा संचार तकनीक आधारित उच्च शिक्षा में निजी कम्पनियों को पूंजी निवेश के लिए प्रोत्साहित किया जाए।^१

देश के जागरूक बुद्धिजीवी वर्ग ने इस प्रतिवेदन का जोरदार शब्दों में विरोध किया है। शिक्षक आन्दोलनों और शिक्षा के सामाजिक सरोकारों पर प्रखर विचार रखने वाले प्रकाश चतुर्वेदी सवाल उठाते हैं, 'प्रतिवेदन में बड़ी ही चालाकी और चतुराई से शिक्षा को सामाजिक संदर्भों से अलग कर दिया गया है, क्योंकि रिपोर्ट में यह चिन्ता तो व्यक्त की गयी है कि देश में गरीबी है, आवश्यक संसाधनों का अभाव है, देश की अधिसंख्य जनसंख्या अशिक्षित है तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे पास साधन नहीं है। इन चिन्ताओं में नया कुछ भी नहीं है, क्योंकि इन स्थितियों से देश का सामान्य व्यक्ति भी परिचित है। असल चिन्ता तो यह होनी चाहिए कि देश की गरीबी को कैसे दूर किया जाए? देश की अशिक्षित जनता को शिक्षित करने के लिए किस तरह साधन जुटाए जायें? और यहीं हमारे व्यापारी शिक्षाशास्त्री मूल प्रश्न को छोड़ सम्पन्न वर्ग के लोक की ओर बढ़ जाते हैं और रिपोर्ट कहने लगती है कि

संचार-प्रौद्योगिकी के इस युग में हमें विश्व के अग्रणी देशों के समक्ष भारत को लाना है, देश की जनता को संचार प्रौद्योगिकी की शिक्षा देनी है, इसके बिना देश आगे नहीं बढ़ सकता। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट के नाम पर शिक्षा उन्हीं लोगों के साथ में आ जाएगी जिनके पास इस प्रौद्योगिकी के लिए उपयुक्त साधन हैं।⁹

यह रपट विकसित देशों की प्रेरणा से एक हद तक निर्देशित है। लेकिन सच तो यह है कि स्वयं उन देशों को शैक्षिक परिदृश्य प्रतिवेदन द्वारा प्रस्तावित शैक्षिक परिदृश्य से बिल्कुल अलग है। दरअसल, 'जिन देशों के निर्देशों को प्रेरणास्त्रोत मान हम अपनी शिक्षा को आकार देने में लगे हैं, उन देशों की शिक्षा व्यवस्था को भी हम पूरी तरह समझ नहीं पाए हैं। हम अमेरिका के अनुकरण पर शिक्षा को निजी क्षेत्रों में देने का उपक्रम कर रहे हैं, किन्तु अमेरिका की शिक्षा का निजीकृत रूप क्या है, इसे समझने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। पहली बात तो यही है कि अमेरिका की 40 प्रतिशत शिक्षा भी निजी क्षेत्र में नहीं, दूसरी वहाँ शिक्षा सामाजिक अंकुश से मुक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ शिक्षा व्यापारिक घरानों या निजी हाथों में न होकर सामाजिक संगठनों, जैसे- निकायों, फाउंडेशन, सोसाइटी आदि के हाथ में है। इन संगठनों का पूरा अंकुश वहाँ की शिक्षा पर है। यदि हम भारत में शिक्षा को निजी तथा व्यापारिक घरानों के हाथ में सौंप देते हैं तो निश्चय ही सरकार या समाज का कोई अंकुश शिक्षा पर नहीं होगा, अतः अमेरिका की सही नकल भी नहीं कर पा रहे हैं।'¹⁰

3. ये रोशनी हकीकत में एक छल है लोगों

(विद्यालयी शिक्षा और अंतर्विरोधों की भयावहता)

भारत में आर्थिक असमानता की तरह शिक्षा के क्षेत्र में भी पर्याप्त असमानताएँ हैं। एक तरफ सम्पन्न आर्थिक तबके के लिए महंगे पब्लिक स्कूल हैं। इनमें आधुनिक तौर-तरीके 'आधुनिकता' के पर्याय हैं। यह अलग बात है कि यह सतही आधुनिकता पाश्चात्य अंधानुकरण और जनविरोधी मानसिकता पर टिकी हुई है। इनका एकमात्र उद्देश्य होता है बहुराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, पूँजीपतियों के माल के खपत के लिए एक बड़ा बाजार अर्जित करना। इसके बाद केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय तथा कुछ निजी शिक्षण संस्थाओं का स्थान आता है, जिनमें थोड़े कम आर्थिक हैसियत के विद्यार्थी स्थान पाते हैं। इसके बाद राज्य सरकार संचालित विद्यालयों का स्थान है। फिर उन विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रेरित-संचालित विद्यालयों का स्थान आता है, जो अपना काम साक्षरता से शुरू कर औपचारिक शिक्षा तक विद्यार्थियों को पहुँचाते हैं। इन संस्थाओं की जैसी संरचनाएँ, वैसे ही इनमें कार्यरत शिक्षकों के आर्थिक स्तर हैं। प्राथमिक शिक्षा से जुड़ी इन योजनाओं (प्राथमिक/ उच्च प्राथमिक विद्यालय, सम्पूर्ण साक्षरता, उत्तर साक्षरता, सतत शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, राजीव गाँधी पाठशाला, जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम, शिक्षाकर्मी सहज शिक्षा, शिक्षांचल) में कार्यरत शिक्षकों का

वेतन या मानदेय 200 रु. से 5000 रुपये तक है। 'क्या यह दुःखद आश्चर्य की बात नहीं है कि समता आधारित समाज निर्माण और सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध कोई भी संगठन इस सरासर अन्याय के विरुद्ध आवाज नहीं उठा रहा है। न ही वह सरकार जो भारतीय संविधान के उस प्रावधान को मानती है जिसके अनुसार यहाँ का प्रत्येक नागरिक समान हैसियत रखता है, इस भेदभाव को मिटाने के लिए कोई सख्त कदम उठाती है।' ¹¹

इस विशाल तंत्र के बावजूद, 'विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में भारत की स्थिति सहरेतर अफ्रीका जैसा ही है जबकि अफ्रीकी देशों के विपरीत भारत में राजनैतिक अस्थिरता, तानाशाही, गृहयुद्धों और बार-बार अकालों से मुक्त शांति और सर्जनात्मक व्यवस्था रही है। लेकिन इन अच्छे हालात का लाभ उठाने में हम असफल ही रहे।'¹² अब भारत सरकार वित्तीय घाटे का रोना रो-रो कर और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के इशारे पर इस क्षेत्र में सब्सिडी खत्म कर, विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों से सहयोग हेतु याचना कर रही है।

इस काम के लिए सरकारें सम्मोहक तंत्र की ककालत करने लगी हैं। मध्यप्रदेश की तर्ज पर राजस्थान के वित्तीय घाटा का हौवा खड़ा कर सरकार ने अनुदान प्राप्त शैक्षिक संस्थाओं के अनुदान में कटौती शुरू कर दी। एक तरफ अनुदान कटौती दूसरी तरफ प्रबन्धन को असीमित अधिकार, यह सरकार की रणनीति थी। शिक्षक संगठनों ने इसका जोरदार विरोध किया, फिलहाल राजनैतिक दबावों और कारणों से सरकार ने अनुदान यथावत रखा है पर सरकार नीतिगत बदलावों को लेकर किस कदर आतुर और जनविरोधी रुख अख्तियार करने वाली है, इसे सरकार की प्रस्तावित नयी शिक्षा-नीति के संदर्भ में स्पष्टता से समझा जा सकता है। 17 अगस्त, 2001 को एस. एन. थानवी (सचिव, सैकेंडरी एवं उच्च शिक्षा, राजस्थान सरकार) ने 'रिफार्म्स इन एजुकेशन नाम से एक रिपोर्ट तैयार की है, जिसे प्रस्तावित शिक्षा-नीति के रूप में क्रियान्वयन की सरकार की योजना है।

सरकार किस तरह अपनी जिम्मेदारियों से हाथ खींचने की तैयारी कर रही है- उसे फिलहाल दो तरह से समझा जाए- पहली प्रस्तावना यह है कि, 'अनुदान को पहले स्थिर किया जाय, फिर धीरे-धीरे कम कर समाप्त कर दिया जाय, क्योंकि सरकारी-तंत्र घनघोर आर्थिक संकट से गुजर रहा है। जो संस्थाएँ समाज के वंचित तबके के लिए काम कर रही हैं, उन्हें एक निश्चित समय के लिए अनुदान दिया जाय। वर्षों से अनुदान प्राप्त संस्थाओं में अनुदान कम कर समाप्त करने की नीति बने, फिर उनका नए संस्थानों हेतु आवंटन एक निश्चित समय के लिए हो। यह आवंटन प्राइवेट सेक्टर के ऐसे संस्थानों के लिए हो जो शैक्षिक रूप से पिछड़े क्षेत्र में कार्यरत हैं।'¹³ उसी तरह दूसरी प्रस्तावना है कि 'सभी विद्यालयों को 'विद्यालय विकास समिति' संस्था से निबंधित कर प्रबन्धन तंत्र को पूरी स्वायत्तता दे दी जाय। यह समिति समूचे तंत्र का नियंत्रण करें।'¹⁴ गौर करने की बात है कि लम्बे अर्से से काम कर रहे, अनुदान प्राप्त शैक्षिक संस्थाओं के पास उपलब्धियों की शानदार

परंपरा रही है, बिना कोई तदर्थ वैकल्पिक तंत्र विकसित किए वित्तीय कटौति यदि वहाँ की जाती है तो उससे जुड़े सभी तंत्र- कर्मचारी, विद्यार्थी, समाज शिक्षा जैसी मूलभूत जरूरतों से वंचित हो जाएँगे। सरकारी नीतियाँ उस शून्य से बड़ी चालाकी और बेशर्मी से मुंह मोड़ने की वकालत कर रही हैं। उसी तरह 'विद्यालय विकास समिति' के रूप में संस्थाओं की स्वायत्तता की बात द्वारा प्रबन्धन-तंत्र को जो असीमित अधिकार के प्रस्तावित प्रावधान हैं, वे भी दमनकारी, अमानवीय, अलोकतांत्रिक तथा भारतीय की मूलभूत गरिमा के खिलाफ, शुद्ध मुनाफे और लाभ की मानसिकता से संचालित प्रेरित प्रबन्धन तंत्र के हितों के रक्षक होंगे। हाँ, सरकार भले ही अपनी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ने में सफल होगी।

4. म्हाने चाकर राखो जी

(समग्रता और बहुजनहितायता की अवधारणा का निषेध)

उदारीकरण के पीछे जो ताकतें क्रियाशील हैं, उनकी मंशा है कि सरकार विद्यालयी शिक्षा की जिम्मेदारी स्वयं ले और उच्च शिक्षा के वे क्षेत्र जो शुद्ध मुनाफे से संचालित हैं, उन्हें निजी क्षेत्र को सौंप दिया जाय अर्थात् प्रबन्धन, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी, डिजाइनिंग, विज्ञापन, सूचना-प्रौद्योगिक आदि का संचालन निजी क्षेत्र करें और बाकी विज्ञान, समाजशास्त्र, मानसिकी, कला आदि विषय सरकार के जिम्मे रहें। इस तरह उच्च शिक्षा द्विभागीकृत हो गई है। ज्ञान की हमारी परंपरागत समझदारी जिज्ञासा, कौशल, प्रश्न पूछने की ताकत, साहस, समग्र सोच बहुजनहित आदि गुणों से जुड़ी है। लेकिन समझने की यह प्रक्रिया भौतिक सफलता या बाजार में बिकने वाली क्षमता के रूप में पर्यवसित होती जा रही है। बाजार के तराजू में तौलने और ऊँची कीमत मिलने वाला ज्ञान एक तरफ, दूसरी तरफ मानसिकी, सामाजिक समझदारी संचालित ज्ञान जिसे हाशिये पर ढकेलने, फिर बेमौत मारने की प्रक्रिया चल चुकी है। निरंतर समृद्ध होते प्रबन्धन और प्रौद्योगिकी शिक्षा संस्थान एक तरफ, निराशा, कुंठा, नकारात्मक दृष्टि पैदा करने वाले पारंपरिक उच्च शिक्षा संस्थान दूसरी तरफ जहाँ न्यूनतम सुविधाएँ भी नहीं हैं और बाजार में उनके विद्यार्थियों के समायोजन के अंतहीन दुःख हैं ही, जो इस बाजारीकृत वैश्वीकृत दुनिया की आधारभूत विडंबना है। इस उच्च शिक्षा की नयी दुनिया में वह सबसे सफल है, जो व्यक्तित्वहीन चाकरी में माहिर हो और इस कदर माहिर हो कि सामाजिक सरोकार जैसे दायित्व से अच्छी तरह पल्ला झाड़ चुका हो।

कला और मानविकी के क्षेत्र में उच्च शिक्षा की दुनिया में फिलहाल सरकारी अनुदान सत्तर से अस्सी प्रतिशत है। प्रति छात्र औसत खर्चा 4000 से 5000 वार्षिक है, जबकि छात्र 1500 से 2000 रुपये वार्षिक शुल्क अदा कर रहे हैं। अब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अपनी अनुदान की भूमिका से हट रहा है, ऐसा नयी नीतियों के तहत हो रहा है। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की फीस लाखों रुपये में है। उच्चतम न्यायालय कैपिटेशन फीस पर पहले से ही

सैद्धान्तिक सहमति दे चुका है। निजी संस्थाओं का उद्देश्य आर्थिक दोहन होता है, गुणवत्ता नहीं। उनका पूरा विकास बाजारोन्मुख होता है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दुनिया में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत, सम्मानित आई. आई. टी. जैसे संस्थानों में उदारीकरण के दौर में तब्दीलियाँ साफ तौर पर महसूस की जा सकती हैं। फिलहाल प्रायोजित शोधों का सिलसिला चल निकला है। पूरी तरह से निजीकरण के बाद बहुराष्ट्रीय-राष्ट्रीय पूँजीपति सीधे उच्च संस्थाओं को प्रायोजित करेंगे, पूरा प्रशासन और पाठ्यक्रम उनके द्वारा संचालित होगा। अब हम कल्पना करें कि ऐसी स्थिति में क्या होगा? धनी देशों को अपनी व्यवस्था चलाने वाला बौद्धिक वर्ग सस्ती कीमत पर विकासशील देशों से मिल जाएगा। उसी तरह धनबल पर विदेशी छात्र प्रवेश पाएँगे और मेधावी लेकिन निर्धन देशी छात्र अध्ययन से वंचित रह जाएँगे। इस क्षेत्र में हो रहे सूक्ष्म से सूक्ष्म तब्दीलियों पर निगाह रखने वाले जितेन्द्र भाटिया कहते हैं, 'दुखद यह है कि इस परिवर्तन की आड़ में विज्ञान और वैज्ञानिक, दोनों का अमानवीकरण और अवमूल्यन हुआ है। तकनीकी विकास की इस विशालकाय भट्टी में वैज्ञानिक प्रतिभा का इस्तेमाल अब अन्य संसाधनों की तरह एक जरूरी कच्चे माल की तरह होने लगा है। शायद तकनीकी प्रतिभा के इस भयानक अवमूल्यन पर पर्दा डालने के लिए ही आधुनिक पूँजी धर्मी शब्दावली में वैज्ञानिकों के जीते जागते कच्चे माल को मानव संसाधन जैसे गौरवान्वित नाम से बुलाया जाना जरूरी समझा गया है। लेकिन इस सारे भारी-भरकम खिताबों के बावजूद आज एक तरफ मशीनों, कम्प्यूटरों और अन्य स्वचालित संयंत्रों पर विज्ञान की निर्भरता लगातार बढ़ती जा रही है, तो दूसरी तरफ पिछले दिनों के प्रयोगधर्मी और जिद्दी वैज्ञानिकों की कुर्सियों पर अब हर जगह यांत्रिक भाव से कम्प्यूटर और दूसरे संयंत्र खड़खड़ाने वाले टेक्निशियन और साइंटिफिक वर्कर्स दिखाई देने लगे हैं।'¹⁵

निजीकरण की वकालत करते समय, अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों से बेरुखी अपनाने वाले उद्योगपति दूरदर्शी नीतियों के तहत अपने काम को शातिराना तरीके से अंजाम दे रहे हैं। इसे एक उदाहरण के द्वारा ज्यादा स्पष्ट तरीके से समझा जा सकता है। मुकेश अंबानी, कुमारमंगल बिड़ला जिन्हें देश की भावी शिक्षा नीति का मसविदा तैयार करने की जिम्मेदारी पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सौंपी, वे ज्ञान और स्थापना की दुनिया में एकदम अपरिचित नाम हैं, वे मूलतः उद्योगपति हैं। उन्होंने अपनी एक महत्वपूर्ण स्थापना रखी कि शिक्षा को अनिवार्यतः बाजारोन्मुख होना चाहिए। क्या है इसकी प्रेरक शक्ति, जरा गौर कीजिए इन उद्योगपतियों की नजर से, 'बाजारोन्मुख शिक्षा का अर्थ महज सूचना व संचार तकनीक का ज्ञान हासिल कराने वाली शिक्षा से है। इसमें ज्यादा से ज्यादा फैशन डिजाइनिंग, विज्ञापन और मॉडलिंग जैसे विषयों का और इजाफा किया जा सकता है।' बाकी विज्ञान, समाजशास्त्र, मानसिकी और कला जैसे विषयों को सरकार के जिम्मे और हाशिये पर रखा गया है, क्योंकि उनसे तुरन्त धन कमाने के अवसर नहीं बनते। यह भी उल्लेखनीय है कि तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—जून, 2004

अंबनियों ने इस दिशा में व्यावहारिक पहल भी कर दी है। रिलायंस समूह गुजरात के गांधीनगर में 100 करोड़ रुपये का निवेश कर धीरुभाई अंबानी इंस्टीच्यूट ऑफ इनफॉर्मेशन एंड कम्युनिकेशन टेक्नोलॉजी' नाम से एक निजी विश्वविद्यालय खोलने जा रहा है। इस निजी विश्वविद्यालय पर सरकारी मुहर लगवाने के लिए एक ड्राफ्ट बिल गुजरात सरकार के पास विचाराधीन है जिसे जल्दी ही विधानसभा की स्वीकृति मिल जाने की खबर है। इसके अलावा रिलायंस समूह 'धीरुभाई अंबानी फाउंडेशन' नाम से एक और निजी विश्वविद्यालय गुजरात के ही जामनगर शहर में खोलने की योजना पर काम कर रहा है। ये विश्वविद्यालय अमरीका के इस क्षेत्र के अग्रणी विश्वविद्यालयों के साथ सहयोग में संचालित होंगे। अंबानियों ने शिक्षा के क्षेत्र में मुनाफा कमाने की नीयत को बड़े ही व्यवस्थित ढंग से अंजाम दिया है। पहले उन्होंने व्यापार एवं उद्योग पर प्रधानमंत्री की सलाहकार परिषद में अपनी घुसपैठ बनाई। फिर शिक्षा में सुधारी की सिफारिश करने वाली दो सदस्यीय समिति में एक सदस्य की जगह हथिया ली। फिर शिक्षा सुधारों के नाम पर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को राज्य या सरकार के मत्थे डालकर उच्च शिक्षा यानि सूचना और संचार तकनीक की शिक्षा को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सहित निजी निवेश के लिए खोलने की सिफारिश कर डाली।

मुनाफाखोर वणिक् बुद्धि ने अपनी चालों को सैद्धान्तिक जामा पहनाते हुए, सरकार को सुझाव दिया, 'भारत सरकार को विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण हेतु स्वयं की भूमिका को पुनर्परिभाषित करना होगा। विज्ञान और प्रौद्योगिक, प्रबन्धन, अर्थशास्त्र, वित्तीय प्रबन्धन और वाणिज्यिक उपयोग के अन्य जरूरी विषयों के क्षेत्र में नए निजी विश्वविद्यालयों की स्थापना के प्रोत्साहन हेतु निजी विश्वविद्यालय अधिनियम बनाया जाना चाहिए।... सरकार को इस दिशा में अग्रणी औद्योगिक घरानों को प्रोत्साहित करना चाहिए।'¹⁶

प्रतिरोध के किसी भी स्वर की आशंका को समाप्त करने के लिए पहले सरकारी नियन्त्रण से मुक्ति, फिर अपनी मांगों को लेकर जागरूक तबके की अनुपस्थिति की प्रस्तावना। इस लिहाज से उच्च शिक्षा पर यह टिप्पणी गौरतलब है, 'हमारे विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े बन गए हैं। उच्च शिक्षा की स्तरहीनता और अनुत्तरदायी भूमिका के लिये नेतागिरी करने वाले शिक्षक ही जिम्मेदार हैं। ... इस गंभीर मर्ज के ईलाज के लिए यह अपरिहार्य है कि राजनैतिक पार्टियों की यह आपसी समझदारी बने कि वे विश्वविद्यालयों और शैक्षिक संस्थाओं से दूर ही रहें। बल्कि इस दिशा में उन्हें प्रतिबन्ध की अनुशंसा करनी चाहिए।'¹⁷

उच्च शिक्षा की समग्रता और बहुजनहितायता की अवधारणाओं को नष्ट करने की साजिश जारी है और ज्ञान की उपलब्धि सिर्फ यही होने जा रही है कि स्वयं को एक बेहतर कच्चे उत्पाद में तब्दील कर देशी-विदेशी उद्योगपतियों से अर्ज की जाए - 'म्हाने चाकर राखो जी' सच अपनी जगह प्रखरता से इस तथ्यात्मक रुख के साथ खड़ा है कि विकास की कोई भी अवधारणा 'समान अवसर प्रेरित' चिन्तन के बिना बेमौत मरने के लिए अभिशप्त है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लोकतंत्र के सात अध्याय- योगेन्द्र यादव (सं. अभय कुमार दुबे), पृष्ठ संख्या 52
2. India- Economic Development and Social Opportunity- Jean Dreze, Amartya Sen, Page No.- 16
3. प्रभात खबर, विशेष प्रकाशन, आजादी के पचास वर्षों बाद : सपना, हकीकत संभावनाएँ, पृष्ठ संख्या 14
4. India- Economic Development and Social Opportunity- Jean Dreze, Amartya Sen, Page No.- 38, 39
5. शिक्षा का बहुराष्ट्रीयकरण, शिक्षा विमर्श, जुलाई-अगस्त-सितम्बर 2000, पृष्ठ संख्या 25
6. आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियाज इकॉनामी, नम्बर 35, रिसर्च युनिट फॉर पोलिटिकल इकॉनामी, पृष्ठ संख्या 48
7. शिक्षा विमर्श, अक्टूबर-नवम्बर 2002, पृष्ठ संख्या 45
8. Mukesh Ambani, Kumarmangalam Birla-Report on A Policy Framework for Reforms in Education, Page No. 48, April 2000.
9. सिर्फ कुशल कारगर बनाने वाली शिक्षा हमारा अभीष्ट नहीं,, समय माजरा, दिसम्बर 2003, प्रकाश चतुर्वेदी,, पृष्ठ संख्या 39
10. सिर्फ कुशल कारगर बनाने वाली शिक्षा हमारा अभीष्ट नहीं,, समय माजरा, दिसम्बर 2003, प्रकाश चतुर्वेदी,, पृष्ठ संख्या 40, 41
11. शिक्षा कर्म का अवमूल्यन जारी है- महावीर समता संदेश -सुरेश पंडित, पृष्ठ संख्या 14, 15
12. India- Economic Development and Social Opportunity- Jean Dreze, Amartya Sen, Page No.- 46
13. Reforms in Education :- New Policy Initeatives, S.N. Thanavi, Page No. 37,38
14. Reforms in Education :- New Policy Initeatives, S.N. Thanavi, Page No. 37,38
15. अंकल सैम, हेयर आई कम! यानी हमारी तकनीकी शिक्षा का एक चेहरा- जितेन्द्र भाटिया, पहल 62, जुलाई-अगस्त 1999, पृष्ठ संख्या 57, 58
16. Mukesh Ambani, Kumarmangalam Birla-Report s on A Policy Framework for Reforms in Education, Page No. 46, April 2000.
17. Mukesh Ambani, Kumarmangalam Birla-Report on A Policy Framework for Reforms in Education, Page No. 48, April 2000.

प्रवक्ता, हिन्दी

पं. उदय जैन महाविद्यालय

कानोड़ (उदयपुर) राजस्थान

क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) सचित्त तेउकाय है ?

जैन दर्शन एवं विज्ञान - दोनों आधारों पर विद्युत् यानी 'इलेक्ट्रीसीटी' सचित्त तेउकाय है या नहीं - इस विषय में मीमांसा की गई थी। उसी शृंखला में प्रस्तुत अंक में, 'अग्नि' के विषय में जैन आगम एवं जैन दर्शन और विज्ञान की मान्यताओं के विषय में विश्लेषण किया गया है तथा साथ में आकाशीय विद्युत्, इलेक्ट्रीक बल्ब, ट्यूब लाईट आदि के विषय में भी सभी दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। लेखक ने जहां जैन आगम-साहित्य का गहराई से अवगाहन किया है वहां स्वयं वैज्ञानिक होने के नाते आधुनिक विज्ञान की सभी अवधारणाओं को गहराई से समझ कर प्रस्तुत किया है। टिप्पण में सभी उद्धरणों को विस्तार से उद्धृत किया गया है जिससे पाठक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सके।

इस लेख की चौथी कड़ी इस अंक में प्रकाशित की जा रही है जिसमें विषय से सम्बद्ध अन्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा एवं शंका-समाधान किया गया है। आशा है, सुधी पाठक इस समग्र लेख का पूर्वाग्रह-रहित अध्ययन करेंगे।

— सम्पादक

प्रश्न-12 - महानदी पर डेम बाँध कर टरबाइन की सहायता से जो इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न की जाती है वहाँ प्रक्रिया ऐसी होती है कि वेग से पानी के प्रवाह को टरबाइन के ऊपर डाला जाता है जिससे टरबाइन पूरे वेग से घूमता है। उस समय टरबाइन से जुड़े हुए डायनमो (Dyanamo) में रखे हुए मेग्नेटवाले चन्द्रकों के बीच Coil भी वेग से गोलगोल फिरती है। इस प्रकार कन्डक्टिंग रॉड (Coil) और मेग्नेटीक लाईन्स के बीच एक प्रकार का प्रबल घर्षण उत्पन्न होने से वहाँ इलेक्ट्रीसीटी पैदा होती है। पानी का वेग बढ़ने से टरबाइन ज्यादा तेजी से घूमता है। जैसे-जैसे टरबाइन ज्यादा वेग से घूमता है वैसे-वैसे मेग्नेटिक फिल्ड में रखी हुई कन्डक्टिंग रॉड ज्यादा तेजी से फिरती है। जैसे-जैसे कन्डक्टिंग रॉड ज्यादा वेग से घूमती है वैसे-वैसे मेग्नेटींग लाइन्स ओफ फोर्स में प्रबल घर्षण होने के द्वारा चुंबकीय प्रेरण रेखाएँ (मेग्नेटीक लाइन्स) वेग से कटती हैं। जैसे-जैसे मेग्नेटीक फिल्ड में व्यवस्थित मेग्नेटीक लाइन्स ओफ फोर्स में वेग से प्रबल घर्षण पैदा होने से चुंबकीय रेखाएँ तेजी से कटती हैं वैसे-वैसे ज्यादा प्रमाण में इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न होती है।

यहां एक और बात ध्यान में रखनी है कि चुंबकीय रेखाएँ (Magnetic Lines) भी प्रभा, छाया, आतप, उद्योत, प्रकाश, तरंग, शब्द इत्यादि की तरह जैन मतानुसार द्रव्य स्वरूप ही हैं। चुंबकीय रेखाएँ भावस्वरूप-पर्यायस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि भाव किसी द्रव्य में से अलग होकर बाहर नहीं निकल सकता। कपड़े का सफेद वर्ण (=पर्याय) कभी कपड़े (द्रव्य) को छोड़कर बाहर नहीं निकलता जबकि चुंबकीय रेखाएँ तो मेग्नेट के बाहर निकलती है। इसलिए वह पर्याय (भाव) स्वरूप नहीं होकर, द्रव्यात्मक ही है। जैनागमानुसार जैसे अपने शरीर के भीतर से द्रव्यात्मक छाया-परमाणु निकलते हैं, जिनकी वजह से प्रतिबिंब-फोटो इत्यादि लिए जा सकते हैं, उसी प्रकार लोहचुंबक में से द्रव्यात्मक चुंबकीय रेखाएँ निकलती हैं जिनकी वजह से लोहचुंबक लोहे को अपनी ओर खींच सकता है।

यहाँ और एक बात ध्यान में रहे कि गति और घर्षण दोनों अलग चीज है। परन्तु जब कोई भी मूर्त्त (रूपवाला) पदार्थ गति करता है तो वह अपने प्रतिघाती पदार्थों के साथ अवश्य घर्षण उत्पन्न करता ही है। पुद्गल की गति धीमी हो तो घर्षण कम होता है और गति तेज हो तो घर्षण ज्यादा होता है। उसी तरह किसी भी पदार्थ को काटने के लिए किसी भी प्रकार की गति काम में नहीं आती, लेकिन निश्चित प्रकार की गति द्वारा उत्पन्न होने वाला विशिष्ट घर्षण ही उपयोगी बनता है। कन्डक्टिंग रॉड जितनी ज्यादा तेजी से गति करता है उतना ज्यादा घर्षण उत्पन्न होता है और मेग्नेटीक लाइन्स ज्यादा तेजी से काटती है और इलेक्ट्रीसीटी ज्यादा उत्पन्न होती है। कन्डक्टिंग रॉड की गति, चुंबकीय रेखाओं की काटने की स्पीड और मेग्नेटीक पावर-इन तीनों के गुणांक के अनुसार इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न होती है।

मेग्नेट जितना ज्यादा पावरफुल होगा उतनी चुंबकीय रेखाएँ ज्यादा होती हैं। यदि यह चुंबकीय बलरेखाएँ कटती नहीं तो इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न नहीं होती। चुंबकीय रेखाएँ और कन्डक्टिंग रॉड के बीच यदि घर्षण नहीं होता तो चुंबकीय रेखाएँ कटती नहीं। जैसे करवत और लकड़ी के बीच सही तरीके से घर्षण हो तभी लकड़ी कटती है। उसी प्रकार कन्डक्टिंग रॉड और चुंबकीय रेखाओं के बीच योग्य घर्षण हो तभी चुंबकीय रेखाएँ कटती है। उन दोनों के बीच घर्षण अत्यन्त तेजी से होता है तो मेग्नेटीक लाइन्स तेजी से कटने के कारण इलेक्ट्रीसीटी ज्यादा उत्पन्न होती है। यदि वहाँ घर्षण मंद होता है तो मेग्नेटीक लाइन्स धीरे-धीरे कटने से इलेक्ट्रीसीटी कम उत्पन्न होती है।

इलेक्ट्रीक जनरेटर में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया से इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न होती है। The World Book, Encyclopedia में निम्न जानकारी देखने से यह बात ज्यादा स्पष्ट होगी।

“The stronger the magnet, the greater the number of lines of force. If you rotate the loop of wire between the poles of the magnet, the two sides of the loop ‘cut’ the lines of force. This induces (generates) electricity in the loop.

In the first half of the turn, one side of the loop of wire cuts up through the lines of force. The other side cuts down. This makes the electricity flow in one direction through the loop. Half way through the turn, the loop moves parallel to the lines of force. No lines of force are cut and no electricity is generated.”

(Part-6, Electric-generator-Page-146, London)

साइकिल के पहिये में लगे हुए डायनमो (Dyanamo) में भी इसी तरह कन्डक्टिंग रॉड (Coil) द्वारा प्रबल घर्षण उत्पन्न होने से चुंबकीय रेखाएँ कटती हैं और इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न होती है। इस तरह एक प्रकार के घर्षण से उत्पन्न होने के कारण भी इलेक्ट्रीसीटी सजीव तेउकाय स्वरूप सिद्ध होती है, क्योंकि पत्रवणा सूत्र के प्रथम पद में बादर तेउकाय जीव के जो प्रकार बताए गए हैं, उनमें तथा जीवाभिगमसूत्र (प्रथम प्रतिपत्ति-सूत्र-२५) में भी ‘संघरिससमुद्दिष्ट’ ऐसा निर्देश मिलता है।

मतलब अग्नि के जीव के कुछ ऐसे भी प्रकार होते हैं जो संघर्ष से -घर्षण से उत्पन्न होते हैं। नियत प्रकार के कुछ घर्षण से अग्निकाय जीवों के योग्य योनि (=उत्पत्तिस्थान) पैदा होती है और अग्निकाय के जीव वहाँ उत्पन्न होते हैं। इसलिए जिस प्रकार माचिस बोकस की दोनों साइड में एन्टीमनी सल्फाइड, फोस्फरस सल्फाइड, रेती और गौंद के मिश्रण की लेप

वाली कागज की पट्टी के ऊपर (सोडियम नाइट्रेट अथवा अॅमोनियम फोस्फेट के द्रावण में डाल कर सुखाई हुई तथा सिंदूर, पोटेशियम क्लोरेट, एन्टीमनी सल्फाइड और गौंद का मिश्रण जिसके सिरे पर लगा हुआ होता है वैसी, १८५२ में स्विडन के लुंडस्ट्रोमने खोजी) दियासलाई के वेगपूर्ण घर्षण से उत्पन्न होने वाली अग्नि सजीव है उसी प्रकार टरबाइन के अन्दर व्यवस्थित मेग्नेट और कोइल की विशिष्ट व्यवस्था के कारण मेग्नेटीक फिल्ड में घूमते हुए कन्डक्टिंग रॉड के द्वारा चुंबकीय रेखाओं (Magnetic Lines) को काटने के लिए उत्पन्न होते हुए प्रबल घर्षण द्वारा उत्पन्न होती हुई दाहक इलेक्ट्रीसीटी भी बादर तेउकाय जीव स्वरूप है-ऐसा फलित होता है।

यदि घर्षण के बिना वहाँ इलेक्ट्रीसीटी उत्पन्न होती है तो टरबाइन बंद हो तब भी वहाँ बिजली उत्पन्न होनी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए 'संघरिससमुट्टिए' पद द्वारा पन्नवणा और जीवाभिगमसूत्र में जो बादर सजीव तेउकाय का एक प्रकार बताया गया है उसी में प्रस्तुत इलेक्ट्रीसीटी का समावेश करना जरूरी है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है' ऐसा कोई कहे, उसका अर्थ यह नहीं है कि मिट्टी से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु घट ही है, क्योंकि मिट्टी से खिलौना, चूल्हा, तवा इत्यादि भी बनते हैं तथा मिट्टी से ही घड़ा उत्पन्न होता है, ऐसा भी उपर्युक्त वाक्य का अर्थ नहीं कर सकते हैं। मिट्टी की तरह सोना, चाँदी, तांबा इत्यादि में से भी घड़ा उत्पन्न हो सकता है परन्तु उपर्युक्त वाक्य का अर्थ इतना ही हो सकता है कि 'कुछ विशिष्ट प्रकार का घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है।' मिट्टी से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट आकार वाली वस्तु 'मिट्टी का घड़ा' कहलाती है- ऐसा ही अर्थघटन सर्वमान्य है।

उसी प्रकार से 'घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न होती है', ऐसा बताने वाले 'संघरिससमुट्टिए' ऐसा पन्नवणासूत्र का अर्थ ऐसा नहीं समझना कि 'घर्षण से उत्पन्न होने वाली सभी चीज सजीव अग्निकाय ही है,' क्योंकि हथेली को घिसने से जो गरमी पैदा होती है, वह कोई अग्निकाय जीव नहीं है तथा 'सभी प्रकार के अग्निकाय जीव घर्षण से ही उत्पन्न होते हैं', ऐसा अर्थ भी उपर्युक्त शास्त्रवचन का नहीं किया जा सकता, क्योंकि घर्षण के बिना भी सूर्य प्रकाश और मेग्नीफाइंग ग्लास के माध्यम से तथाविध तेउकाय योनि बनने से तेउकाय जीव वहाँ उत्पन्न होते ही हैं परन्तु उपर्युक्त आगमवचन का अर्थ इतना ही करना अभिप्रेत है कि 'कुछ प्रकार के अग्निकाय के जीव घर्षण से उत्पन्न होते हैं। जिन पदार्थों में घर्षण से उत्पन्न होने वाली गरमी, दाहकता इत्यादि गुणधर्म देखने को मिलते हैं, उनको घर्षणजन्य अग्निकाय स्वरूप मानना-ऐसा ही अर्थघटन 'पन्नवणासूत्र' के 'संघरिससमुट्टिए' वचन द्वारा शास्त्रकारों को मान्य है-ऐसा निश्चित होता है।'

यद्यपि टरबाइन के माध्यम से एक विशिष्ट प्रकार के घर्षण से उत्पन्न हुई बिजली की-

तेउकाय की पन्नवणासूत्र में अथवा जीवाभिगमसूत्र में नाम लेकर बात नहीं की है। फिर भी पन्नवणासूत्र में पूर्वधर श्यामाचार्यजी ने बादर तेउकाय के अनेक प्रकार विस्तार से बताने के बाद अन्त में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया है कि 'जे यावण्णे तहप्पगारा....' अर्थात् (यहाँ इतना ध्यान रखना है कि सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रकाश, जुगनू का प्रकाश, जठराग्नि, बुखार की गरमी इत्यादि तेउकाय जीव स्वरूप नहीं है। ऐसा उल्लेख अन्य शास्त्रों में प्राप्त होता है। इसलिए उनका यहाँ व्यावर्तन करना चाहिए। उनका समावेश यहाँ दृष्ट नहीं है।) "जो दूसरे भी पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से उष्णता, दाहकता इत्यादि लक्षण वाले हो तो उन्हें बादर तेउकाय रूप समझना।" कितनी दीर्घ दृष्टि से स्पष्ट शब्दों में अग्निकाय जीव की पहचान पन्नवणासूत्र में प्राप्त होती है। जीवाभिगमसूत्र की प्रथम प्रतिपत्ति के २५ वें सूत्र में भी इस प्रकार के शब्द देखने को मिलते हैं^{१२}

उत्तर- पहले हम घर्षण या संघर्ष को समझें।

घर्षण या संघर्ष-समुत्थित का सामान्य अर्थ है-दो ठोस पदार्थों के बीच रगड़। प्रश्न में घर्षण जो अर्थ करने का प्रयत्न किया गया है, वह प्रस्तुत प्रसंग में संगत नहीं है। यद्यपि पदार्थ यानि ठोस, तरल या बाष्प रूप पुद्गल जिन्हें सामान्यतः मेटर कहा जाता है और प्रकाश, ध्वनि आदि ऊर्जा रूप पुद्गल जिन्हें ऊर्जा कहा जाता है, दोनों एक ही पुद्गलास्तिकाय नामक द्रव्य के ही दो रूप हैं, फिर भी इनके गुणधर्मों की भिन्नता के आधार पर मेटर और एनर्जी को दो अलग-अलग अस्तित्व के रूप में देखा जाता है। चुंबकीय क्षेत्र (Magnetic Field) की रेखाएं मेटर के रूप में न हो कर ऊर्जा के रूप में होती हैं, इसलिए इनके साथ होने वाले "इण्टरेक्शन" भौतिक अर्थ में संघर्ष या घर्षण की कोटि में नहीं आते^{१३}

जैन आगमों में वर्णित संघर्ष-समुत्थित अग्नि स्पष्टतः चकमक पत्थर या अरणी की लकड़ी आदि के रगड़ से उद्भूत आग के रूप में बनाई गई है।

प्रस्तुतः प्रश्न को हम इस प्रकार रख सकते हैं-क्या बिजली की उत्पत्ति केवल घर्षण से ही होती है? घर्षण से उत्पन्न होने के कारण ऐसी विद्युत् को 'संघर्ष-समुत्थित' अग्नि ही क्यों न माना जाए?

उत्तर-बिजली उत्पन्न करने के अनेक तरीके हैं। इस पर दो दृष्टियों से विचार करना होगा-

(क) बिजली उत्पन्न करने का तरीका स्वयं हिंसा पर आधारित ही है या नहीं?

(ख) बिजली उत्पन्न होने के पश्चात् वह सचित्त तेउकाय है या नहीं?

हाइड्रोजन पावर-हाउस में बिजली टरबाईन द्वारा उत्पन्न की जाती है, उसमें मेगनेट

(चुम्बक) को तेजी से घुमाने के लिए पानी को ऊंचाई से नीचे गिराया जाता है। चुम्बक पर अविष्ट तार में विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। इस सारी प्रक्रिया में संघर्ष या घर्षण यानि कहीं पर नहीं होता। विद्युत् प्रेरण की प्रक्रिया में दूर से ही विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। चुम्बकीय रेखाएं चुम्बक के आसपास के आकाश में उत्पन्न प्रभाव मात्र है, कोई वस्तु या पदार्थ नहीं। उन्हें काटने का अर्थ भौतिक अर्थ में नहीं है। तीव्र गतिशील पदार्थ की गति के साथ घर्षण तब होता है जब दूसरा पदार्थ ठोस, तरल या बाष्प रूप में हो और उससे टकराए। चुम्बकीय रेखाएं ऐसा पदार्थ है ही नहीं, इसलिए उन्हें पदार्थ मान कर संघर्ष या घर्षण को बताना संगत नहीं है। ठोस, तरल या बाष्प रूप में पुद्गल यानि “मेटर” और ऊर्जा रूप पुद्गल यानि ‘एनर्जी’ दोनों के अन्तर को समझना होगा। दोनों को एक रूप में मान कर उनके बीच घर्षण मानने का अर्थ है सर्वत्र ही सब पदार्थों में घर्षण होता ही रहता है^{१५} जिस रूप से संघर्ष या घर्षण का अभिप्राय संघर्ष-समुत्थित अग्नि की उत्पत्ति में आवश्यक माना गया है, वह तो स्पष्टतः दो ठोस पदार्थों के बीच होने वाले घर्षण से ही है। जैसे-चकमक पत्थरों को परस्पर रगड़ना। अरणी की लकड़ी की रगड़ से उत्पन्न होने वाली अग्नि भी संघर्ष-समुत्थित है।

चुम्बक को गतिशील बनाने के लिए किसी भी तरीके को अपनाया जा सकता है। जनरेटर सेट में रोटर को घुमाने का कार्य अन्य तरीके से (डीजल आदि जलाकर) किया जाता है पर घर्षण से विद्युत् की उत्पत्ति नहीं की जाती।

जहाँ तक पानी की हिंसा, तेल को जलाने की हिंसा आदि का संबंध है, यह स्पष्टतः हिंसा ही है। किन्तु हिंसा से निष्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न विद्युत् स्व जीव कहाँ से हो जाएगी? रसोई बनाते समय विभिन्न जीवों की हिंसा की जाती है परन्तु उससे निष्पन्न भोजन स्वयं जीव नहीं होता। उसी प्रकार हिंसाजन्य होते हुए भी विद्युत् स्वयं सचित तेउकाय नहँ है।

विद्युत् पैदा करने के अन्य तरीके हैं, जिनमें संघर्ष प्रसंग ही नहीं आता, जैसे-

1. एसिड-युक्त बेटरी में केवल जस् और एसिड की रासायनिक क्रिया विद्युत् उत्पन्न करती है^{१५}
2. फोटो-इलेक्ट्रीक सेल में प्रकाश के द्वारा विद्युत्-प्रवाह को निष्पादित किया जाता है^{१६}
3. सौर सेल में सौर ऊर्जा को कांच में से गुजर कर बिना घर्षण विद्युत् ऊर्जा पैदा की जाती है^{१७}
4. डार्क जल (जो घड़ी आदि में लगते हैं) में भी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा विद्युत् पैदा होती है, संघर्ष से नहीं^{१८}

इन सब सेलों में प्रत्यक्षतः कोई हिंसा दिखाई नहीं देती। इस प्रकार विद्युत् उत्पन्न करने के साधन हिंसाजन्य भी है, हिंसा-मुक्त भी हैं। साधन हिंसाजन्य हो या न हो पर निष्पन्न विद्युत् स्वयं अचित्त है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न-13 “राख से ढके हुए सुलगते अंगारों में प्रकाश-गरमी इत्यादि तेउकाय के लक्षण स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देने पर भी वह सजीव बादर अग्निकाय स्वरूप है, यह बात निर्विवाद स्वरूप में सभी जैनों को मान्य है। इस अग्नि को विध्यातअग्नि (-सुषुप्त अग्निकाय जीव) के रूप में पिंडनिर्युक्ति (गाथा-५६१) ग्रंथ में श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने बताया है। वहाँ सजीव अंगारों पर यदि घासलेट या पेट्रोल डाला जाए तो तुरंत ही वहाँ विस्फोट-प्रकाश-गरमी उत्पन्न होते हैं।

उसी प्रकार तीव्रतम D.C. (Direct Current) या A.C. (Alternating Current) इलेक्ट्रीसीटी जिसमें से प्रसारित होती है उस खुले वायर को ज्यादा प्रमाण में ओजोन वायु का सम्पर्क हो तो उस खुले वायर में से भूरे (Blue) रंग का प्रकाश कोरोना इफेक्ट से अपने आप प्रकट होता हुआ दिखाई देता ही है। जंगल के आसपास के वातावरण में कुदरती प्रक्रिया से उत्पन्न हो रहे प्रचुर ओजोन के कारण, विशेष तौर पर सर्दी की रात में तीव्रतम ए.सी./डी.सी. पावर वाले खुले वायर में से बहुत जल्दी सवेरे के समय भूरे रंग का प्रकाश निकलता हुआ दिखाई देता है। खुले ट्वीस्टेड वायर में से अत्यंत तेजी से प्रवाहमान घर्षणयुक्त इलेक्ट्रीसीटी पूर्वोक्त विध्यात अग्निकाय जीव ही है। इसीलिए ओजोन स्वरूप इन्धन के संपर्क में आने के साथ ही वह भूरे प्रकाश में दिखाई देती है तथा तीव्र वेग से घर्षणपूर्वक ए.सी. पावर जिसमें से प्रसारित होता है उस वायर के माध्यम से बल्ब में रहे हुए फिलामेंट में बिजली आते ही वहाँ तुरन्त उष्णता-प्रकाश इत्यादि प्रकट होते हैं। शोर्ट सर्कीट से आग लगने के कई किस्से बनते ही हैं। लीकेज हुए या टूटे हुए दो वायर यदि एक साथ मिल जाएं और उसमें से इलेक्ट्रीसीटी पसार होती हो तो उसमें से प्रकाश के रूप में चिनगारियाँ निकलती हुई दिखाई देती हैं। इस प्रकार इलेक्ट्रीसीटी तेउकाय जीवस्वरूप ही सिद्ध होती है। वास्तव में इन सभी बातों द्वारा तेउकाय जीव को समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है।

श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने भगवतीसूत्र व्याख्या में तथा ज्ञाताधर्मकथावृत्ति में ‘भस्मच्छन्नोऽग्निः बहिर्वृत्त्या तेजोरहितोऽन्तर्वृत्त्या तु ज्वलति’ (भाग-२/१, ११४/ ज्ञा.१, १, ४० मेघकुमार) ऐसा कहने के द्वारा तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र व्याख्या में ‘भस्मच्छन्नो वह्निः अन्तः ज्वलति, बहिःम्लानो भवति’ (२/५, ४५) अर्थात् ‘राख से ढकी हुई आग बाहर से निस्तेज दिखाई देती है। फिर भी अन्दर से तो सुलगती ही है’, ऐसा कह कर बताया है कि राख से ढकी हुई अग्नि में बाहर से वैसी उग्रता-प्रकाश-दाह-गरमी इत्यादि लक्षण नहीं दिखाई देते हैं फिर भी अन्दर से सुलगने के कारण वह तेउकाय स्वरूप ही है-ऐसा सूचित किया है। उसी

प्रकार प्रस्तुत में कह सकते हैं कि वायर में से प्रवाहित होती इलेक्ट्रीसीटी में प्रकाश वगैरह लक्षण बाहर से नहीं दिखने पर भी अन्दर से तो वह विलक्षण प्रकार से सुलगती ही है। इसीलिए उसको हाथ लगाते ही भयंकर जलन होती है। इसीलिए वह सजीव अग्नि ही है।

बड़े-बड़े थम्भों पर लगे हुए हाईटैन्शन वायर में से ए.सी. या डी.सी. पावर पसार होता है तब उसके नीचे से पसार होने के समय उस ट्वीस्टेड वायर में ज्यादा प्रमाण में लगातार होते हुए स्पार्कस की आवाज हमें सुनाई देती है। वर्षा हो रही हो, उस समय तो ए.सी. या डी.सी. पावर वाले खुले वायर में होते हुए स्पार्क अत्यन्त बड़ी आवाज में सुनाई देते हैं। यह स्पार्क अग्निकाय नहीं तो क्या है ?

हाईटैन्शनवाले दो खुले वायर नजदीक में आए तब भी उनमें से प्रकाश-चिनगारियाँ उत्पन्न होती ही हैं। उस अवस्था में जिस वायर में वोल्टेज (विद्युत् दबाव) ज्यादा हो उसमें से कम वोल्टेज वाले वायर में प्रकाश के स्वरूप में इलेक्ट्रीसीटी पसार होती हुई दिखाई देती ही है।

हाई इलेक्ट्रीसीटी के बड़े गुंबज में भी वायु के संसर्ग से महाकाय चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्टरनेट द्वारा मिलती जानकारी से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

Show our Van de Graff producing sparks. The Sparks are going from the big domes to one of two small spheres that are on telescoping grounded poles.

The sparks are produced when the voltage on the domes gets large enough that it ionizes the air, turning it from an insulator into a conductor. This does not all happen at once, but it does happen very quickly - a typical spark (or lightning flash) lasts less than 1/1000 of a second !

“वान-डे-ग्राफ” चिनगारी किस तरह से उत्पन्न करता है ? चिनगारी बड़े गुंबज पर से छोटे गोले की तरफ जाती है। जब गुंबज पर का वोल्टेज (=विद्युत् दबाव) बहुत बढ़ जाता है तब वह आसपास की हवा को आयनीकृत (आयोनाइज्ड) कर देता है। (परमाणु अथवा मूलकण एक अथवा ज्यादा इलेक्ट्रॉन को प्राप्त करके अथवा गुमा कर विद्युत्भार प्राप्त करता है उस समय उत्पन्न होने वाली रचना को आयन कहते हैं। (विज्ञानकोश-रसायन विज्ञान-भाग-५, ले.श्रीमती एल.एस.देसाई, पृष्ठ-४२)) जिससे हवा अवरोधक में से वाहक बन जाती है। यह प्रक्रिया बहुत तेजी से होती है। एक सैकंड के हजारवें भाग में वह चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं।

Only one spark can be produced at a time. Although sparks can come very quickly. Each spark drains the electricity off the domes and the

machine must then recharge itself. In this our machine differs somewhat from a lightning storm where the cloud has such a massive charge that most lightning strikes are actually two to ten or more strokes using the same channel. [<http://www.mus.org/s/m/toe/ssparks.html>]

एक समय एक ही चिनगारी होती है। लेकिन प्रक्रिया बहुत तेज होती है। चिनगारी से गुंबज की विद्युत् शक्ति डिस्चार्ज हो जाती है। जिससे उस यंत्र को फिर से चार्ज करना पड़ता है। तूफानी वातावरण में आकाश में उत्पन्न होती बिजली से इस यंत्र में तफावत मात्र इतना है कि बिजली होने के समय बादल में इतना ज्यादा चार्ज होता है कि प्रायः प्रत्येक बिजली के कड़ाके में २ से १० बार चमकारे उत्पन्न होते हैं, जो एक ही प्रवाह में बहते हैं।

शान्त चित्त से इस बात पर गहन विचार किया जाए तो हवा के संपर्क से विद्युत्प्रवाह घर्षणजन्य ऐसे ये महाकाय स्पार्क्स, इलेक्ट्रीसीटी को तेउकाय जीव रूप में स्वीकार करने के लिए निःसंदिग्ध बड़ा सबूत है। गुंबज में रही हुई इलेक्ट्रीसीटी अंदर में तो तेजी से जलती ही है। इसीलिए वोल्टेज बढ़ जाने से योग्य संयोगों में अपने आप चिनगारी के स्वरूप में बाहर निकल जाती है। इसीलिए वह तेउकाय जीवस्वरूप ही है।²⁹

उत्तर- विध्यात अग्नि- राख से ढके हुए अंगारों के भीतर की अग्नि में अग्नि की क्रिया चालू रहती है। वहां निरन्तर “कंबश्चन” चालू है। इसलिए वह वास्तव में मंद अग्नि है। उस प्रक्रिया में अग्नि की क्रिया बंद नहीं होती।

दियासलाई (मेचस्टीक) और मेचबोक्स में अग्नि पैदा करने की क्षमता मौजूद है पर जब तक दोनों में रगड़ नहीं होती, तब तक अग्नि पैदा नहीं होती। क्या मेचबोक्स में रखी हुई मेचस्टीक में भी ‘विध्यात अग्नि’ का अस्तित्व माना जा सकता है ? नहीं। ठीक उसी प्रकार तार में गुजरते विद्युत्-प्रवाह में भी ‘अग्नि’ का अस्तित्व नहीं है। “इन्सुलेटेड” तार को ऑक्सीजन (या ओजोन) से सीधे सम्पर्क का अवसर नहीं मिल सकता, जबकि खुले ट्वीस्टेड वायर में सीधा हवा के साथ सम्पर्क का मौका मिल जाता है और उसके साथ ही यदि ज्वलनशील पदार्थ का संयोग भी मिल जाए तो अग्नि पैदा हो जाएगी। “आयनीकरण” होकर हवा में जो ऊर्जा का विकिरण होता है वह “स्पार्क” का ही रूप है, जिसके विषय में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। स्मरण रहे गुंबज से होने वाले स्पार्क हो अथवा शॉर्ट सर्किट से उत्पन्न स्पार्क हो अथवा हाई वाल्टेज वाले खुले तार के द्वारा आसपास की हवा (आदि से युक्त) के आयनीकरण से उत्पन्न स्पार्क हो, ये स्पार्क स्वयं तो निर्जीव विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के रूप में ऊर्जा का विकिरण मात्र है, जब इनके सम्पर्क में ज्वलनशील पदार्थ आता है और चूँकि वहाँ ऑक्सीजन (या ओजोन) मौजूद है तब अग्नि पैदा हो जाती है या आग लग जाती है। उस समय ही वहाँ तेउकाय जीव की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

तात्पर्य यह हुआ कि- खुले वायर में चलने वाली विद्युत्-धारा जब ओजोन के संपर्क में आती है तब यदि कंबश्चन की क्रिया घटित होने के लिए आवश्यक सभी बातों का संयोग मिले, तो अग्नि पैदा हो सकती है-

1. ज्वलनशील पदार्थ
2. ओजोन (ऑक्सीजन का ही पुष्ट रूप)
3. उच्च तापमान (ज्वलनांक)
4. प्रकाश

यह तो इस बात को सिद्ध करता है कि विद्युत् स्वयं न अग्नि है, न विध्यात अग्नि है, पर अनुकूल संयोगों में अग्नि पैदा कर सकती है। इसका यह अर्थ निकालना कि विद्युत् के भीतर विध्यात अग्नि के रूप में छिपी अग्नि रहती है और राख से ढके हुए सुलगते अंगारों में रही अग्नि की तरह ही वह है, ठीक नहीं है। तब तो फिर ऐसा भी कह सकते हैं कि दियासलाई में विध्यात अग्नि छुपी है और मेच बॉक्स से रगड़ लगाने पर प्रकट हो जाती है। वस्तुतः विद्युत् का परिणामन अनुकूल संयोग मिलने पर अग्नि या अन्य ऊर्जा के रूप में होना सहज संभव हैं। विद्युत्-प्रवाह अपने आप में पौद्गलिक ऊर्जा है, यह ऊर्जा अनुकूल संयोग पाकर अग्नि रूप में बदल सकती है।

प्रश्न 14 - शंका:- अगर वायर में से पसार होती हुई इलेक्ट्रीसीटी वास्वत में अग्निकाय जीव हो तो जैसे दाहकता नामक गुणधर्म उसमें होता है वैसे उसमें उष्णता भी देखते को मिलनी चाहिए, क्योंकि दाहकता की भांति उष्णता, गरमी भी तेउकाय जीव का लक्षण है।

समाधान:- वायर में से गुजरती इलेक्ट्रीसीटी में उष्णता, गरमी भी होती ही है। इसीलिए तो ए.सी., कम्प्युटर, टी.वी. चैनल, इस्त्री लाइट वगैरह बहुत घंटे तक लगातार चालू रखने में आए तो दुकान, घर वगैरह में फिटींग किया हुआ आवृत्त वायर भी बाहर से गर्म लगता ही है। वायर के अंदर तीव्र गति से बहती इलेक्ट्रीसीटी की यह उष्णता भी घर्षणजन्य है। इसीलिए यह घर्षणजन्य तेउकाय जीव का ही एक प्रकार है। यद्यपि पावरहाउस वाले दुकान-घर इत्यादि में सिर्फ पांच १ एम्पीयर (दो पीन वाले प्लग के लिए) या पंद्रह एम्पीयर वाली (तीन पीन वाले प्लग के लिए) इलेक्ट्रीसीटी सप्लाय करते हैं। जिससे गरम होने पर भी वह वायर पिघलता नहीं है परन्तु पचास एम्पीयर वाली इलेक्ट्रीसीटी दुकान, घर इत्यादि में फिटींग किए हुए वायर में से यदि पसार करने में आए तो अवश्य उस वायर का इन्स्युलेशन तुरंत ही पिघल जाएगा तथा स्पार्क होकर इन्स्युलेशन जल भी जाता है तथा हाईटेशनवाले खुले ट्वीस्टेड वायर में से ५०० से ८०० एम्पीयर वाली तीव्रतम पावर की इलेक्ट्रीसीटी पसार करने में आती है। अगर उसे दुकान या घर में फिटींग किए वायर में से पसार करने में आए

तो वह तांबे का तार और उसके ऊपर का इन्स्युलेटेड कवर तात्कालिक ही जल जाएगा, विस्फोट हो जाएगा। अरे! आठसो एम्पीयर वाली पावरफुल इलेक्ट्रीसीटी तो शहर में रॉड पर के थंभे के बड़े वायर को भी जला देगी, पिघला देगी। ऐसी भयंकर उष्णता उसमें होती ही है।

इसीलिए इलेक्ट्रीसीटी अग्निकाय जीव स्वरूप ही है। ३०० से ८०० एम्पीयरवाली इलेक्ट्रीसीटी जिसमें से पसार हो रही हो ऐसे खुले ट्विस्टेड वायर को यदि पेड़ का स्पर्श हो जाए तो तुरंत ही वह पेड़ जलने लगता है, कोयला बन जाता है। यदि उस हाईटन्शन वायर लाइन्स की नजदीक में कोई बड़ा पेड़ हो तो उस पेड़ को खुले वायर में से पसार होती हुई इलेक्ट्रीसीटी अपने पास खींच लेती है और पेड़ को जला देती है। ऐसी बात जी.ई.बी. साबरमती-अहमदाबाद के डेप्युटी एन्जीनीयर मुकेशभाई संघवी बताते हैं। इससे इलेक्ट्रीसीटी तेउकाय जीवस्वरूप ही सिद्ध होती है।

उसी तरह से यदि खुले हाईटन्शन वायर के नीचे यदि रूई का खुला ढेर वायर से ५/६ फुट दूर रखने में आए तो वह तुरंत जलने लगता है। इसीलिए तो रूई-जीन की मीलों में हाईटन्शन वायर के आसपास रूई का ढेर रखने की मनाई होती है। ऐसी गफलत से आग लगने की अनेक घटनाएँ दाहोद वगैरह की जीनींग मीलों में बन चुकी हैं। यह हकीकत भी इलेक्ट्रीसीटी को तेउकाय जीव स्वरूप में सिद्ध करती है। घर वगैरह में उपयोग में आने वाली सिर्फ पाँच या पंद्रह एम्पीयर वाली इलेक्ट्रीसीटी की गरमी अर्थात् उष्णता अल्प मात्रा में होने से उसे निर्जीव नहीं कही जा सकती अन्यथा तो दावानल या टाटा स्टील की भट्टी की अपेक्षा अत्यन्त कम उष्णता वाली मोमबत्ती-अगरबत्ती इत्यादि की आग को भी निर्जीव माननी पड़ेगी।

ठाणांग सूत्र में 'अंतो अंतो झियायंति' (८/७०२) इन शब्दों द्वारा तथा जीवाभिगमसूत्र में 'अंतो अंतो हुहुयमाण्णइ' (३/२,१०५) ऐसे शब्दों द्वारा अंदर ही अंदर में अत्यंत तेजी से जलती हुई और इंधन मिले तो बाहर भी प्रकाश-ज्वाला-चिनगारी इत्यादि को उत्पन्न करती हुई अग्नि की बात आती है। श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने पिंडनिर्युक्ति (गा.५९२) ग्रंथ में अग्निकाय जीव के सात प्रकार बताए हैं। उनमें 'विध्यात (=सुषुप्त) अग्नि' के नाम से जो सबसे प्रथम प्रकार बताया है उसकी पहचान भी ऊपर बताई गई अग्नि के समान ही है। अंदर से सुलगती होने पर भी बाहर से उसके लक्षण प्रकट रूप से नहीं दिखने से ऐसा लगता है जैसे आग बुझ गई हो। इसलिए उसे विध्यात (=सुषुप्त) अग्निकाय जीव कहते हैं। किन्तु आवश्यक इंधन, वातावरण आदि सामग्री मिलने पर तुरंत उसमें से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। यही लक्षण वायर में से पसार होती हुई इलेक्ट्रीसीटी में भी देखने को मिलता ही है। इसलिए पिंडनिर्युक्ति अनुसार वायर में पसार होती हुई बिजली का पूर्वोक्त (पृष्ठ-५, ४३) विध्यात नाम के अग्निकाय जीव स्वरूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। वह अंदर में बुझी नहीं होती। किन्तु अन्दर ही अन्दर धक-धक जलती ही है। इसलिए तो उसको छूने पर ही भयंकर जलन

होती है। शोर्ट सर्किट होने पर आग की चिनगारियाँ निकलती ही हैं। बल्ब के अन्दर फिलामेंट में वह प्रकाश को भी उत्पन्न करती है।

स्कूटर आदि के स्पार्क प्लग में इलेक्ट्रीसीटी चिनगारियाँ को भी पैदा करती ही है। स्पार्कप्लग में एक वायर के सिरे से छलांग मार कर इलेक्ट्रीसीटी चिनगारी के स्वरूप में दूसरे सिरे तक जाती हुई साफ़-साफ़ दिखाई देती ही है। यह बात निश्चित रूप से सिद्ध करती है कि इलेक्ट्रीसीटी अग्निकाय जीवस्वरूप ही है।

High D.C./A.C. पावर जिसमें से प्रसारित होता है उस खुले वायर के साथ यदि जमीन पर खड़े हुए व्यक्ति का सीधा संपर्क हो जाए तो वह तुरंत ही निर्जीव होकर काला पड़ जाता है। यदि इलेक्ट्रीसीटी तेउकाय जीव न हो तो उससे आदमी काला कैसे हो जाता है? इलेक्ट्रीसीटी को तेजोलेश्या तो मान ही नहीं सकते, क्योंकि इलेक्ट्रीसीटी में आतप नाम कर्म का उदय नहीं है। इसलिए उष्णस्पर्श नाम कर्म के उदयवाले तेउकाय जीव के स्वरूप में ही उसका स्वीकार करना मुनासिब लगता है।

इस प्रकार आदमी को कोयले जैसे श्याम करती इलेक्ट्रीसीटी अपने कार्य द्वारा तेउकाय का ही एक विलक्षण प्रकार है—यह बात सिद्ध होती है कि जो सामान्य संयोग में दिखाई नहीं देती। किन्तु ओजोन के सम्पर्क में आते ही गतिशील इलेक्ट्रीसीटी को वहन करते हुए खुले वायर में से भूरे (=Blue) रंग का प्रकाश दिखाई देता है कि जो घर्षणजन्य अग्निकाय जीव ही है। यह बात हम अभी देख गए।

इसी प्रकार High A.C. इलेक्ट्रीसीटी जिसमें से प्रसार होती है उस खुले ट्वीस्टेड दो बड़े वायर को एकदम समीप रखने में आए तो एक वायर में से वह इलेक्ट्रीसीटी वीजीबल रेञ्ज में आकर प्रकाश स्वरूप को धारण करती हुई दूसरे वायर में तेजी से जाती हुई दिखाई देती है। मतलब कि इनवीजीबल रेञ्ज में रही हुई प्रवहमान इलेक्ट्रीसीटी वीजीबल रेञ्ज में आने पर स्पार्क, ज्वाला इत्यादि स्वरूप में दिखाई देती हैं।

जिस प्रकार अत्यन्त क्रोधी मनुष्य छोटी-छोटी बातों से क्रोधित हो जाता है उसी प्रकार अत्यन्त तीव्रतम गतिशील इलेक्ट्रीसीटी स्वरूप जलता तेउकाय अत्यन्त संवेदनशील (Sensitive) होने के कारण थोड़ा सा भी निमित्त मिलने पर तुरंत ही विस्फोट-आग-प्रकाश-उष्णता-दाह इत्यादि प्रकट करके अपना तेउकायपना बता ही देता है। एक प्रकार के अग्निकाय द्वारा दूसरे प्रकार का अग्निकाय कुछ ही देर में ही प्रकट हो सकता है—यह बात जगत प्रसिद्ध ही है। योग्य वातावरण, संयोग, साधन सामग्री मिलते ही अत्यन्त तेजी से इलेक्ट्रीसीटी में से चिनगारियाँ और विस्फोट होने का अनुभव कितने ही व्यक्तियों को होता ही है। शोर्ट सर्किट से मंडप इत्यादि में आग लगने की घटनाएँ भी सुप्रसिद्ध ही हैं।^{१०}

उत्तर - तार में जो विद्युत्-प्रवाह बहता है, उसका परिवर्तन उष्मा के रूप में हो सकता है या किया जा सकता है। उष्णता के साथ जब तक अन्य सभी तेउकाय के लक्षण प्रगट न हो तब तक तेउकाय की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। तार जब उष्मा को सहन नहीं कर सकता, तो गरम होकर पिघल जाता है। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। खुले तार में हाई पावर वाला करंट चलने पर ज्वलनशील पदार्थ मिल जाए तो अग्नि की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह कर लेना कि तार में प्रवहमान करंट स्वयं तेउकाय है, ठीक नहीं है। बाहर अग्नि पैदा करने के लिए चारों अनिवार्य घटक आवश्यक होंगे। विध्यात अग्नि की चर्चा हम कर चुके हैं। बुझी हुई या विध्यात अग्नि पहले प्रकट अग्नि रूप में होती है और बाद में ऊपर से बुझी हुई लगती है, भीतर जलती रहती है (अंतो अंतो झियायंति स्थ. 8/702 का यही तात्पर्य है) बिजली के तार के भीतर यह लागू नहीं होता है।

स्पाक के विषय में भी हम चर्चा कर चुके हैं। क्रोधी मनुष्य की उपमा अतिज्वलनशील पदार्थ पर भी लागू होती है पर पेट्रोल आदि को अग्नि के रूप में नहीं माना जाता। शार्ट सर्किट से आग लगने में भी तेउकाय की उत्पत्ति के चारों घटक विद्यमान होते हैं। उसके बिना न शॉट सर्किट होता है, न आग लगती है।

मूल में एक ही बात को बहुत स्पष्ट समझना होगा कि अग्नि के रूप में विद्युत् के परिवर्तन की प्रक्रिया पूर्ण हुए बिना अग्नि पैदा नहीं होती, भले चाहे वह विद्युत् हाई वाल्टेज वाली हो, हाई एम्पीयर वाला करंट हो, स्पाक हो या विजिबल रोशनी के रूप में हो।

जितने भी उदाहरण प्रश्न में दिए गए हैं, उन सब में ज्वलनशील पदार्थ (रूई, पेड़, आदमी आदि) और खुली हवा (ऑक्सीजन या ओजोन) दोनों का सम्पर्क उच्च तापमान वाली विद्युत् के साथ होता है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ अग्नि काय नहीं हो सकती।

उष्णता जैसे अग्नि का गुण है, वैसे बिना अग्नि (या तेउकाय) भी उष्णता विद्यमान होती है, क्योंकि उष्णता अपने आप में पौद्गलिक है, निर्जीव है। विद्युत् का उष्णता में परिवर्तन मात्र "अग्नि काय" पैदा नहीं कर देता, जब तक कि साथ में ज्वलनशील पदार्थ और ऑक्सीजन-दोनों का संयोग न हो।

भगवती में अचित्त तेजोलेश्या के पुद्गल की उष्णता का इतना स्पष्ट उदाहरण है जो सोलह जनपद को जलाने की क्षमता रखते हैं।¹

प्रश्न-15 - "बल्ब में बिजली के माध्यम से उत्पन्न हुआ प्रकाश भी इलेक्ट्रीसीटी की भाँति तेउकाय जीवस्वरूप ही है। इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करोड़ों इलेक्ट्रॉन का समूह अत्यन्त वेग से स्थूल वायर में से पसार हो कर एकदम पतले टंगस्टन धातु के फिलामेंट में से पसार होता है तब जगह बहुत कम होने से तथा इलेक्ट्रॉन का समूह अधिक मात्रा में होने से तथा उसका वेग बहुत तेज होने से बल्ब में रखे हुए फिलामेंट में अत्यन्त घर्षण

होता है। उसके परिणाम स्वरूप वहाँ प्रकाश और गरमी की उत्पत्ति होती है, ऐसा वैज्ञानिक कहते हैं, तथा हमने पन्नवणासूत्र और जीवाभिगमसूत्र के 'संघरिससमुद्दिष्टे' पाठ के अनुसार बल्ब में पैदा होता हुआ उष्ण प्रकाश वास्तव में घर्षण से उत्पन्न हुए बादर अग्निकाय स्वरूप ही है, सजीव ही है-ऐसा निश्चित होता है। दूसरी ओर अग्निकाय के गुणधर्म विद्युत्-प्रकाश में देखने को मिलते हैं। प्रकाश, गरमी, दाहकता इत्यादि अग्निकाय के लक्षण उसमें देखने को मिलते ही हैं। विडीयो शूटिंग के समय जो लाईट चालू करने में आती है उसके पास में खड़े रहने वाले को सख्त गर्मी का अनुभव होता ही है। लम्बे समय तक यदि बल्ब को चालू रखा जाए तो बल्ब, मर्क्युरी लेम्प इत्यादि गर्म हो जाते हैं। प्रकाशमान लेम्प के ऊपर यदि लम्बे समय तक कपड़ा रखा जाए तो बिल्लौर काँच वगैरह की सहाय के बिना भी वह जल जाता है। ये सब लक्षण बिजली के प्रकाश को तेउकाय स्वरूप में सिद्ध करते हैं।¹³²

उत्तर - प्रस्तुत प्रश्न में उठाई गई शंकाओं को हम क्रमशः देखें-

1. फिलामेंट में विद्युत्-प्रवाह के प्रवेश को वैज्ञानिक किस प्रकार समझाते हैं, उसकी विस्तृत चर्चा हम कर चुके हैं। (देखें, प्रथम भाग, नवां प्रभाग) वहाँ यह स्पष्ट हो चुका है कि टंगस्टन में धातु के परमाणुओं को विद्युत्-प्रवाह के विद्युत्-आवेश द्वारा अपनी ऊर्जा हस्तान्तरित की जाती है, जिससे टंगस्टन का तापमान बढ़ता है। वैसे तो प्रत्येक पदार्थ सामान्य तापमान पर भी उष्मा-विकिरण फैकते रहते हैं पर जब 2500 डिग्री से. तक तापमान बढ़ जाता है, तो कुछ प्रतिशत उष्मा-ऊर्जा दृश्य रोशनी के रूप ऊर्जा में विकिरित होती है, जिसे हम बल्ब के प्रकाश के रूप में देखते हैं। इस प्रकार बल्ब के प्रकाश को संघर्ष-समुत्थित अग्नि कहना ठीक नहीं है। जैसे पहले बताया जा चुका है, ऑक्सीजन के अभाव में यह संभव भी नहीं है। प्रकाश, गरमी आदि गुणों के आधार पर भी विद्युत्=प्रकाश को अग्नि नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये गुण सूर्य के आतप में भी है पर सूर्य का आतप तेउकायिक नहीं है। सूर्य के आतप में भी लेंस के नीचे रखा कपड़ा जल जाता है। इससे क्या सूर्य का आतप स्वयं तेउकाय बन जाएगा ? बल्ब पर रखा कपड़ा यदि बल्ब की उष्मा से तथा हवा के ऑक्सीजन से जलता है, तो इससे बल्ब का प्रकाश कहां से तेउकायिक हो गया ?

अतः स्पष्ट है कि-विद्युत्-ऊर्जा का प्रकाश-ऊर्जा में परिवर्तन केवल पौद्गलिक परिवर्तन है, (यदि ऑक्सीजन आदि प्राप्त न हो)। उसे सूर्य, चन्द्र या अन्य किसी भी प्रकाश की तरह पौद्गलिक ही मानना होगा। तार में इलेक्ट्रॉन के घर्षण की बात भी विज्ञान द्वारा सम्मत नहीं है। वस्तुतः धातु सुचालक होने से इलेक्ट्रॉन का प्रवाह तार में चलता है। इससे कहीं घर्षण की क्रिया नहीं है। धातु के अवरोधकता की चर्चा भी हम कर चुके हैं।

अग्नि और प्रकाश में प्रकाश का गुण समान है पर शेष सारी प्रक्रिया भिन्न है, इसलिए प्रकाश और अग्नि एक नहीं हैं। प्रकाश को जैन दर्शन ने केवल पुद्गल पर्याय माना है।¹³³

प्रकाश को विज्ञान ने “विद्युत् चुम्बकीय तरंग” माना है। विज्ञान और आगम दोनों आधारों पर प्रकाश पौद्गलिक ही है। प्रकाश दाहकता का ही गुण होता तो हम सब प्रकाश मात्र से जल जाते। ऐसा मानना अपने आप में ही सही नहीं है।

कपड़ा ज्वलनशील है। यदि पर्याप्त रूप में गर्म हो जाए और ऑक्सीजन का सहयोग मिल जाए तो जल सकता है अन्यथा केवल गर्म होता है, जलता नहीं।

प्रश्न-16 “बल्ब में स्थापित फिलामेंट में तेउकाय जीवों की उत्पत्ति मानने में कोई शास्त्रीय रुकावट भी नहीं आती है, क्योंकि त्रस अथवा किसी भी प्रकार के जीवों के सजीव अथवा निर्जीव शरीरों में तथाविध कर्मवश तेउकाय के जीव उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसा सूयगडांग सूत्र में बताया है। यह रहा उस शास्त्र का पाठ-‘इहगतिया सत्ता नानाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थ बुक्कमा नानाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सच्चित्तेसु वा अच्चित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति’ (सूय. श्रुतस्कंध-२/अध्ययन ३/सूत्र-१७) मतलब कि पृथ्वी, जल इत्यादि के जीव निश्चित प्रकार के पुद्गल को ही शरीर के रूप में स्वीकारते हैं परन्तु ऐसा नियम अग्निकाय के लिए आगममान्य नहीं है। गैस, लकड़ी, रूई, कागज, प्लास्टिक, पेट्रोल, ओइल, घी, तेल, मिट्टी, पत्थर, इंट, केरोसीन, कपड़ा, रबर, कोयला, घास, रसायन, मुर्दा, लोहा, प्रकाशरूप (= उजही रूप) फोटोन आदि को अपने शरीर के रूप में परिवर्तित करते हैं। उसमें तेउकाय जीव उत्पन्न होते हुए दिखाई देते ही हैं। अग्निकाय के जीव गैस, लकड़ी आदि विविध पदार्थों को अपनी योनि स्वरूप बना कर उनमें उत्पन्न होते हैं। इसलिए फिलामेंट इत्यादि में तेउकाय जीवों की उत्पत्ति मान सकते हैं। वास्तव में सूयगडांगसूत्र की उपर्युक्त बात को श्री महावीरस्वामी भगवान की सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिए एक महत्त्व का ‘अंग’ गिन सकते हैं।”¹³⁴

उत्तर- सूत्रकृतांग के उद्धरण से तेउकायिक जीव की उत्पत्ति के विषय में केवल इतना ही फलितार्थ निकलता है कि “ये जीव त्रस, स्थावर, जीवों के शरीरों में, सचित्त में अथवा अचित्त में अग्निकायिक जीव के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं।” इससे यह तात्पर्य कभी नहीं निकलता कि ये जीव फिलामेंट में भी उत्पन्न हो सकते हैं, भले ही ऑक्सीजन न मिले। मूल बात तो यह है कि अग्निकायिक जीवों की योनि के लिए जो सामग्री अपेक्षित है, उनकी पूर्ति पहले होनी चाहिए। उस सामग्री के बिना गैस, लकड़ी आदि ज्वलनशील पदार्थों में भी अग्निकायिक जीव की न योनि बन सकती है, न अग्निकायिक जीव की उत्पत्ति हो सकती है।”

तात्पर्य यह हुआ कि- गैस, लकड़ी, रूई आदि को तेउकाय के जीव अपने शरीर के रूप में तभी परिवर्तित कर सकते हैं जबकि तेउकाय की उत्पत्ति के लिए आवश्यक सारी शर्तें पूरी हो। जब तक यह शर्तें पूरी नहीं होती, हम गैस, लकड़ी, रूई आदि को तेउकाय नहीं

मानते यानि ज्वलनशील पदार्थ में जलने की क्षमता है पर जब तक कंबश्चन (दहन) क्रिया पूर्ण नहीं होती तब तक वे निर्जीव पदार्थ हैं, किन्तु यह बात ज्वलनशील पदार्थ पर ही लागू होती है, अज्वलनशील पदार्थ पर नहीं, क्योंकि अज्वलनशील पदार्थ कंबश्चन के लिए अयोग्य है।

जो ज्वलनशील पदार्थ है, वे भी जब तक “Inition Point” प्राप्त नहीं होता, दहन-क्रिया नहीं कर सकते।¹⁵ हवा (ऑक्सीजन) की आपूर्ति भी आवश्यक सीमा में होने पर ही वे ज्वलनशील होते हैं, सीमा के बाहर वे अज्वलनशील बन जाते हैं।¹⁶

प्रश्न-17 -“तत्त्वार्थ सूत्र की व्याख्या में श्री सिद्धसेनगणीवरश्री तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ‘तेजः-प्रकाशयोरेकत्वाभ्युपगमात्।’ (५, २४) अर्थात् तेउकाय (=दीए की ज्योत आदि) और उसका प्रकाश (= रोशनी (उजाला) = कृत्रिम प्रकाश) दोनों एक ही वस्तु है-यह शास्त्रमान्य है। इसलिए ‘बल्ब में तो मात्र प्रकाश पुंज ही है। बल्ब के बाहर भी मात्र अजीव प्रकाशपुंज भी फैलता है’, ऐसा नहीं माना जा सकता।

इस तरह शास्त्रानुसार, तर्कानुसार, अनुभवानुसार तथा विज्ञान के अनुसार विचार कर के परस्पर समन्वय किया जाए तो बल्ब का विद्युत् प्रकाश बिजली की तरह सजीव अग्निकाय स्वरूप ही सिद्ध होता है।¹⁷

उत्तर- “तत्त्वार्थ की व्याख्या में तेजः प्रकाशयोरेकत्वाभ्युपगमात्” का अर्थ तेउकाय और उसके प्रकाश की ऐकान्तिक एकता अभिप्रेत नहीं है। यह एकता सापेक्ष है। तेजोवर्गणा के पुद्गल और प्रकाश के पुद्गल दोनों ही पुद्गलद्रव्य की पर्याय हैं-इस अपेक्षा से एक हैं, ऐसा माना है, न कि अग्नि और प्रकाश एक हैं। तत्त्वार्थ सूत्र मूल में ही प्रकाश को पुद्गल की पर्याय बताया है।¹⁸ इस विषय की विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

प्रश्न-18

“आचारांग-निर्युक्ति में श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने कहा है-

‘दहणे पयावण-पगासणे सेए य भत्तकरणे य।

बायर तेउकाए उपभोगगुणा मणुस्साणं।।’ (गा.१२१)

इस प्रकार से बादर तेउकाय के उपयोग को बताया है। जलाना, तपाना, प्रकाशित करना, पसीना होना, पकाना इत्यादि स्वरूप में मनुष्य के उपयोग में जिस प्रकार प्रसिद्ध अग्नि उपयोगी बनती है, उसी प्रकार बिजली-इलेक्ट्रीसीटी भी उन कार्यों में ज्यादा उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार तेउकाय और कृत्रिम बिजली के गुणधर्म, स्वरूप, स्वभाव, कार्य, लक्षण इत्यादि परस्पर महद् अंश में समान होने से कृत्रिम बिजली-इलेक्ट्रीसीटी सजीव तेउकाय स्वरूप ही सिद्ध होती है तथा विद्युत् प्रकाश तो (पृष्ठ - ५१) में बताए अनुसार अपने लक्षण

द्वारा तेउकाय स्वरूप सिद्ध हो ही चुका है। तेउकाय का कारण वायु है। इसलिए उपर्युक्त कार्यकारणभाव ही बल्ब में तथाविध वायु का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

सामान्यतया एक नियम है कि जिस वस्तु का लक्षण जहाँ दिखाई देता है उस पदार्थ को उसी वस्तु के स्वरूप में मान्य करना चाहिए। जीव का लक्षण जहाँ दिखाई देता है उसका जीव के रूप में स्वीकार करना चाहिए। जड़ के लक्षण जहाँ दिखाई देते हैं उन चीजों का जड़ रूप से स्वीकार करना चाहिए। बृहत्कल्पभाष्यपीठिका में 'को सुत्ति अग्नि उत्ते, किंलक्खणो ? दहण पयणाई' (बृ.क.भा. पीठिका गा.३०४) इस प्रकार दहन-पचन-प्रकाशन इत्यादि को तेउकाय जीव के लक्षण रूप में बताया गया है। (अनेक व्याख्या ग्रन्थों में इसी बात का प्रतिपादन है।)

प्रस्तुत में विद्युत्-प्रकाश में तेउकाय के उपर्युक्त लक्षणों में से प्रकाशकत्व, आतापना, दाहकत्व तो स्पष्टरूप में देखने को मिलते ही हैं। इसलिए उसे तेउकाय जीव के रूप में ही स्वीकारना पड़ेगा अन्यथा जड़-चेतन की व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी।

प्रथम कर्मग्रंथ-व्याख्या में श्री देवेन्द्रसूरिजी महाराज ने भी कहा है कि अग्निकाय का शरीर ही उष्ण स्पर्श के उदय से गरम होता है। ये रहे उनके शब्द 'तेजस्कायशरीराणि एव उष्णास्पर्शोदयेन उष्णानि' (गा.४४ वृत्ति)। मनुष्य क्षेत्र = अढ़ाई द्वीप की अपेक्षा से यह बात सुनिश्चित है। इसलिए शास्त्रानुसार गरमी, प्रकाश वगैरह अग्निकाय जीव के एक, दो लक्षण जहाँ दिखाई देते हैं फिर भी जिसका (उदाहरण के तौर पर शरीर की गरमी, जुगनू का प्रकाश, जठराग्नि, बुखार की गर्मी, सूर्यप्रकाश, नरक की अग्नि, चन्द्रप्रकाश, मणि प्रकाश वगैरह) नाम लेकर शास्त्र निर्जीव के स्वरूप में सूचित करता हो, वह पदार्थ सजीव तेउकाय स्वरूप नहीं है- यह बात बराबर है। किंतु इसके अलावा जिन पदार्थों में गरमी, प्रकाश आदि तेउकाय जीव के लक्षण देखने को मिलते हैं उन्हें तो सजीव मानने में ही समझदारी है अन्यथा लक्षण के आधार पर लक्ष्यभूत पदार्थ का प्रामाणिक निश्चय करने की शास्त्रोक्त व्यवस्था ही टूट जाएगी।

इसलिए केवल विज्ञान के ही आधार पर इलेक्ट्रीसीटी इत्यादि को निर्जीव रूप में बताने का दुःसाहस छद्मस्थ जैसे हमें नहीं करना चाहिए, क्योंकि विज्ञान तो जगत के सभी पदार्थों को इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन-न्यूट्रॉन स्वरूप में ही देखता है। तब फिर हम जैन क्या पृथ्वी और जल को सजीव नहीं मानेंगे ? साइन्स का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि $H_2O = \text{Water}$ विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार बीज में से अंकुर का फूटना, वनस्पति पैदा होना इत्यादि एक प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया ही है। अरे ! पत्रवणा वगैरह आगमों में तेउकाय जीव के स्वरूप में प्रदर्शित की गई आकाशीय बिजली भी आधुनिक साइन्स के सिद्धान्त के अनुसार एक तरह से ऊर्जा का स्पंदन ही है। इस तरह से यदि सर्वत्र विचार किया जाए तो जीव का

अस्तित्व हम कहाँ मानेंगे। विज्ञान के पदार्थ से अथवा साइन्स के वर्तमान सिद्धान्त के आधार पर तो जल, अग्नि इत्यादि में तो जीवत्व की सिद्धि कदापि शक्य नहीं है।¹³⁹

उत्तर - जैन दर्शन ने पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवत्व को स्वीकार किया है, किन्तु ये ही जीव शस्त्रपरिणत होने पर निर्जीव हो जाते हैं। H₂O (पानी) शास्त्रपरिणत न हो तब तक सजीव है, शस्त्रपरिणत होने पर वही निर्जीव है। पानी के H₂O रूप में सजीव या निर्जीव अवस्था में अन्तर नहीं आता। इसलिए जीवत्व के लक्षणों के आधार पर वही पदार्थ सजीव या निर्जीव हो जाता है। 'चेतना' लक्षण से सजीव और चेतनाशून्य वही पदार्थ निर्जीव बन जाएगा। प्रकाश, उष्मा, दाहकता आदि सजीव या निर्जीव के लक्षण नहीं बन सकते। ये केवल पौद्गलिक गुण हैं। इसीलिए प्रकाश, उष्मा, दाहकता होते हुए भी नरक की अग्नि अचित्त है। प्रश्नकर्ता ने भी स्वीकार किया कि सूर्यप्रकाश, नरक की अग्नि आदि उपर्युक्त सारे लक्षणों के बावजूद भी अचित्त हैं। "लक्षण" वही होता है, जो निश्चित रूप से वस्तु की पहिचान बने। यदि वही लक्षण विरोधी पदार्थ में भी है, तो उसे लक्षण नहीं कह सकते। न्यायशास्त्र में इसे अतिव्याप्त, लक्षणाभास कहा जाता है।¹⁴⁰ यदि नरक की अग्नि,¹⁴¹ सूर्य का प्रकाश, तेजोलेश्या के अचित्त पुद्गल आदि अग्नि के सभी लक्षणों के बावजूद अचित्त या निर्जीव हैं, तो फिर किस आधार पर इलेक्ट्रीसीटी के इन्हीं लक्षणों वाले परिणमन को सचित्त मान लिया जाए? आकाशीय विद्युत् (विज्जू) की सचित्तता उसकी किस पर्याय में है, उसकी चर्चा हम कर चुके हैं। उससे पूर्व और पश्चात् वह सचित्त नहीं है। इस प्रकार आगमवचन की सापेक्षता को समझकर तथा "लक्षण" शब्द की सीमा को समझकर ही प्रकाश, उष्मा, दाहकता की व्याप्ति अग्नि के साथ समझी जानी चाहिए अन्यथा आगमवचन को भी सम्यग् रूप से समझ नहीं पाएंगे।

इलेक्ट्रीसीटी और अग्नि के लक्षणों की समानता और असमानता-दोनों का विश्लेषण जरूरी है। छद्मस्थ व्यवहार के आधार पर ही यह निर्णय कर सकता है कि अमुक पदार्थ सचित्त है या नहीं। इसमें न तो दुःसाहस की बात होनी चाहिए और न रूढ़िवादिता की। 2500 वर्ष पूर्व जो स्थितियाँ थीं, उनके आधार पर व्यवहार के धरातल पर आगम का मार्गदर्शन हमें मिल सकता है। शेष तो हमें नई स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करनी होगी।¹⁴² उस युग में यदि प्लास्टिक था ही नहीं, तो हम कैसे यह अपेक्षा करें कि प्लास्टिक के विषय में विधि-निषेध का प्रतिपादन आगम करे। उसी प्रकार इलेक्ट्रीसीटी के विषय में भी समझना होगा। विज्ञान की सापेक्षता को समझकर उसको काम में लेना होगा जिससे निर्णय तक पहुँचने में हमें उसका सहयोग मिले। अब हम अग्नि और इलेक्ट्रीसीटी की तुलना करें— जलाना, तपाना आदि गुण इलेक्ट्रीसीटी में नहीं है, जैसे अग्नि में है। तार में प्रवहमान विद्युत्-धारा किसी को जला नहीं सकती है, जब तक उसे जलाने की प्रक्रिया प्रारंभ करने के लिए उपयुक्त सारी तुलसी प्रज्ञा अप्रैल— जून, 2004

सामग्री नहीं मिलती। तार की इलेक्ट्रीसीटी को उपयुक्त संयोग मिलने पर टंडा करने के लिए भी काम में लिया जा सकता है। अपने आप में वह नहीं जलाती है, न टंडा करती है। इलेक्ट्रीसीटी के हजारों उपयोग होते हैं, जो अग्नि द्वारा नहीं किये जाते।

लक्षण के आधार पर भी इलेक्ट्रीसीटी को अग्नि सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि दहन, पचन, प्रकाशन आदि इलेक्ट्रीसीटी के लक्षण मान लिया जाये तो सदैव उनकी प्राप्ति उसमें होनी चाहिए पर ऐसा नहीं है। केवल अमुक-अमुक परिस्थिति में ही इन कार्यों में उसका उपयोग किया जा सकता है। शेष कार्यों में उसका उपयोग करते समय इलेक्ट्रीसीटी न जलाती है, न पकाती है, न प्रकाश करती है। विद्युत्-ऊर्जा का गति-ऊर्जा, ध्वनि-ऊर्जा आदि में परिवर्तन स्पष्ट है। अग्नि की व्याख्या में जो बताया गया है, वह इलेक्ट्रीसीटी पर तभी लागू होता है जब इलेक्ट्रीसीटी को अग्नि के रूप में रूपान्तरित किया जाए (जैसे-विद्युत् के चूल्हे के रूप में) अन्यथा नहीं।

प्रश्न-19- “यहाँ एक दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य है कि कोई भी वस्तु पुद्गल से बनी है, इसलिए निर्जीव है-यह सिद्ध नहीं हो सकता। हमारा शरीर भी औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना है। तो क्या वह सर्वथा निर्जीव है या फिर वह पुद्गलों का एक जीवयुक्त समूह है? इसलिए वर्ण इत्यादि पुद्गल के लक्षणों से युक्त होने के कारण विद्युत् प्रकाश पौद्गलिक है-ऐसा स्वीकार किया जाए तब भी उसकी निर्जीवता सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत-‘उन पुद्गलों को बल्ब में किसने इकट्ठा किया?’ यह प्रश्न खड़ा होता है। उसका कर्ता जीव ही हो सकता है। इसलिए वहाँ जीव की हाजरी अवश्य है ही।

इसी प्रकार जुगनू का प्रकाश चाहे निर्जीव हो किन्तु जुगनू स्वयं तो जीव ही है। वरना मृत जुगनू क्यों सजीव जुगनू की भाँति नहीं चमकता? तथा चंद्रप्रकाश (अर्थात् चन्द्रमा का प्रकाश) निर्जीव होते हुए भी चन्द्रबिंबगत पृथ्वीकाय के जीवों के अधीन है। टंडी चाँदनी चंद्रबिंबगत पृथ्वीकाय जीवों के उद्योतनामकर्म को आभारी है। पत्रवणासूत्र व्याख्या में श्रीमलयगिरिसूरिजी ने बताया है कि-‘यदुदयात् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपं उद्योतं कुर्वन्ति, यथा यति-देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-नक्षत्र-तारक-विमान-रत्नौषध्यः तद् उद्योतनाम’ (पद-२३, उद्देश-२, सूत्र-५४०)।

इससे निश्चित होता है कि चंद्र, नक्षत्र, तारा, रत्न, औषधि इत्यादि का प्रकाश भी जीवसापेक्ष है, उद्योत-नामकर्म सापेक्ष है। इसलिए स्वयं प्रकाशित मणि इत्यादि का भी प्रकाश पृथ्वीकाय के जीव के आधार पर है-ऐसा सिद्ध होता है। पत्रवणासूत्र के प्रथम पद में ‘मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदनीले य’ (१,१५) ऐसा कह कर इन्द्रनील इत्यादि मणि बादर पृथ्वीकाय जीव के भेद रूप में बताए गए हैं। इसलिए उद्योतनामकर्म के उदय से रत्न इत्यादि में प्रकाश प्रकट होता है-ऐसा निश्चित होता है। इस प्रकार साक्षात् या परंपरा से जीव के

सहकार का स्वीकार किए बिना तो कहीं भी प्रकाश नहीं आ सकता। प्रकाश इत्यादि शक्ति आत्मा के विशेष प्रकार के प्रयत्न से प्रकट होती है—ऐसा आचारांगसूत्रवृत्ति में श्रीशीलांकाचार्यजी ने सुनिश्चित अनुमान प्रमाण द्वारा बताया है। ये रहे उनके शब्द 'प्रकाशादिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाऽऽविर्भाविता' (आ. निर्युक्ति. गा.११८ वृत्ति)।

सूर्यप्रकाश १००प्रतिशत निर्जीव है, किन्तु वह जहाँ से निकलता है वह तो सूर्यमंडलगत सजीव पृथ्वीकाय ही है—ऐसा प्रथम कर्मग्रन्थ की (गा.४४) टीका में श्री देवेन्द्रसूरिजी महाराज ने स्पष्ट रूप से बताया है। सूर्य के अन्दर से निकलता हुआ उष्ण प्रकाश तो सूर्यमंडलगत पृथ्वीकाय के जीवों के आतपनामकर्म के विपाकोदय को आभारी है। आतपनामकर्म का उदय सूर्यमंडलगत पृथ्वीकाय के जीवों में ही होता है। यह पत्रवणासूत्र व्यख्या में श्री मलयगिरिसूरिजी ने स्पष्ट रूप से बताया है। ये रहे वे शब्द— 'तद्विपाकश्च भानुमण्डलगतेषु पृथिवीकायिकेष्वेव' (२३, २, ५४० वृत्ति)।

जठराग्नि चाहे निर्जीव क्यों न हो? किन्तु व्यक्ति तो जिन्दा है न! मृत व्यक्ति को तो जठराग्नि नहीं होती। जब तक शरीर में जीव है तब तक वह खुराक को हजम कर सकता है। शरीर में जठराग्नि की उष्मा हो अथवा बुखार की गरमी हो, ये दोनों जीवित शरीर में ही होती है, मृत शरीर में नहीं। इसलिए वे जीव के ही आभारी है। यह बात आचारांगसूत्र की व्याख्या में श्री शीलांकाचार्यजी ने नीचे अनुसार बताई है— 'ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्तते, जीवाधिष्ठितशरीरकानुपात्येव भवित' (अध्ययन-१ निर्युक्ति गा.११८ वृत्ति) अर्थात् बुखार की गरमी जीव के प्रयत्न के बिना नहीं होती है। जीव के प्रयत्न की वह अपेक्षा रखती ही है, क्योंकि वह जीवयुक्त शरीर में ही देखने को मिलती है।

यदि केवल पुद्गल के आधार पर ही जठराग्नि इत्यादि हो तो मुर्दे में भी जठराग्नि, बुखार इत्यादि दिखाई देने चाहिए। आचारांगटीका में श्रीशीलांकाचार्यजी ने तो स्पष्ट रूप से बताया है कि 'सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकं यत् उष्णपरिणामभावत्वं तस्मान्नानेकान्तः' (प्रथम अध्ययन-निर्युक्ति गा. ११८ वृत्ति) अर्थात् सभी उष्णपरिणाम जीव के प्रयत्न के ही आभारी है। ये प्रयत्न साक्षात् हो अथवा परंपरा से हो—यह बात अलग है।

'नरक में अग्निकाय नहीं है'—ऐसी उनकी बात सत्य है। किन्तु द्रव्य लोकप्रकाश के पाँचवे सर्ग में उपाध्यायश्री विनयविजयजी महाराज ने स्पष्ट रूप से बताया है कि 'पृथिव्यादिपुद्गलानां परिणामः स तादृशः' (लोकप्रकाश सर्ग-५, गा.१८२) अर्थात् नरक में अनुभव होने वाली उष्णता पृथ्वीकाय इत्यादि जीवों का परिणाम है।

भगवतीसूत्र की व्याख्या में श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने भी कहा है कि 'इह तेजस्कायिकस्येव परमधार्मिकनिर्मितज्वलनसदृशवस्तुनां स्पर्शः तेजस्कायिकस्पर्शः अथवा भवान्तरानुभूततेजस्कायिकपर्यायपृथिवीकायिकादिस्पर्शापेक्षया व्याख्येयम्' (भ.श.१३, उद्देशे-४ वृत्ति पृष्ठ-६०७)।

मतलब कि 'परमाधार्मिक द्वारा विकुर्वित अग्नितुल्य वस्तु का स्पर्श हो तो अग्निकाय का ही स्पर्श किया-ऐसा नारकी को लगता है अथवा किसी पूर्वभव में अनुभव किए हुए अग्निकाय के पर्याय वाले पृथ्वीकाय इत्यादि जीवों का उष्ण स्पर्श नरक में होता है' भगवतीसूत्र की व्याख्या में श्री अभयदेवसूरिजी महाराज के उपर्युक्त शब्द द्वारा फलित होता है कि नरक में नारकी जीवों को जो गरमी का अनुभव होता है उसमें परमाधामी देवों का प्रयत्न काम करता है अथवा पृथ्वीकाय जीव का ही वह उष्ण स्पर्श है।

यहाँ नोंधपात्र बाबत यह है कि भगवतीसूत्र की व्याख्या में 'पृथिवीपुद्ग-लादिस्पर्शपेक्षया....' ऐसा कहने के बदले 'पृथिवीकायिकादिस्पर्शपेक्षया.....' ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्जीव पृथ्वी के पुद्गलों का उष्ण स्पर्श नहीं बल्कि सजीव पृथ्वीकाय इत्यादि जीवों का उष्ण स्पर्श नरक में होता है। इस प्रकार 'नरक में अनुभव में आने वाले उष्ण स्पर्श का आश्रय जीव ही है और जीव के प्रयोग से ही यह उष्ण स्पर्श उत्पन्न होता है' ऐसा सिद्ध होता है। इस उष्ण स्पर्श का आश्रय जीव हो तभी तो 'भवान्तरानुभूततेजस्कायिकपर्याय' ऐसा विशेषण पृथ्वीकाय को लगाया जा सकता है।

नरक की गरमी का वर्णन करने के प्रसंग में वादीवेताल शांतिस्ूरिजी महाराज ने उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति में 'अग्नौ देवमायाकृते' (१५,४८) ऐसा कह कर 'नरक में जो उष्ण स्पर्श अनुभव में आता है वह देवमायाकृत होता है'- यह बता कर 'वहाँ कृत्रिम उष्ण स्पर्श परमाधामी देव के प्रयत्न को आभारी है'- ऐसा सूचित किया है तथा वही आगे 'तत्रोष्णः पृथिव्यनुभाव' (१९,५०) यह कह कर नरक में जो स्वाभाविक गरमी होती है वह पृथ्वीकाय जीवों का उष्ण स्पर्श है-ऐसा बताया है।

पन्नवणासूत्र की व्याख्या में श्रीमलयगिरिसूरिजी महाराज भी 'नरकावासेषु उष्णस्पर्शपरिणामानि उपपातक्षेत्राणि' (पद-९ सू-१५० पृष्ठ-२२५) यह कह कर 'नरक की गरमी वहाँ के क्षेत्र का परिणाम है'- ऐसा सूचित किया है। इससे सिद्ध होता है कि नरक की स्वाभाविक उष्णता पृथ्वीकाय जीवों का गुणधर्म है।

भगवती सूत्र के १०वें शतक के दूसरे उद्देशक की टीका में श्रीअभयदेवसूरिजी महाराज ने भी कहा है कि 'नारकाणां यदुपपातक्षेत्रं तदुष्णस्पर्शपरिणतम्' (पृ.-४९६) अर्थात् नरक में उपपात क्षेत्र की उष्णता होती है। इस प्रकार पृथ्वीकाय जीव का ही वह उष्ण परिणाम साबित होता है किन्तु जीव के सहयोग बिना तो वहाँ उष्ण स्पर्श-दाह इत्यादि नहीं हो सकता। यह बात बिल्कुल निश्चित ही है।

यहाँ एक और बात करनी आवश्यक है कि भगवतीसूत्र में 'कयरे णं भंते! अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति उज्जोवेति तवेति पभासेति? कालोदाई! कुद्धस्स अनगारस्स तेयलेस्सा निसद्धा समाणी दूरं गंता दूरं निपतइ, देसं गंता देसं निपतइ, जहिं जहिं च णं सा निपतइ तहिं तहिं च णं ते अचित्तादि पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति' (भगवती १/१०/३८०) ऐसा

कहने से जो स्वयं प्रकाश देता हो, दूसरों को प्रकाशित करता हो, दूसरों को तपाता हो तथा अपने उत्पत्तिस्थान से दूर जा कर गिरे और दूसरों को जलाए फिर भी स्वयं निर्जीव हो ऐसे पदार्थ के रूप में तेजोलेश्या का उल्लेख किया गया। किन्तु बिजली इत्यादि किसी दूसरे पदार्थ का उल्लेख नहीं किया गया। यदि बिजली इत्यादि पदार्थ कभी निर्जीव होने की संभावना होती तो भगवतीसूत्र में सर्वज्ञ भगवंत ने उसका निर्देश अवश्य किया होता। परंतु बिजली इत्यादि का वैसे निर्जीव पुद्गल रूप में उल्लेख नहीं किया, यह बात उल्लेखनीय है।

और एक बात, तेजोलेश्या निर्जीव होते हुए भी तेजोलेश्या के पुद्गलों को एकत्रित करके छोड़ने वाला तो जीव ही है। परन्तु बल्ब में न तो तेजोलेश्या होती है और न ही तेजालेश्या को छोड़ने वाला जीव कि जिनके प्रभाव से वहाँ निर्जीव प्रकाश-गरमी इत्यादि उत्पन्न हो सके। प्रस्तुत में जीव के सहकार के बिना तो बल्ब में प्रकाश अथवा गरमी इत्यादि कैसे पैदा हो सकते हैं? क्योंकि 'सभी उष्ण परिणाम जीव के प्रयत्न से ही उत्पन्न होते हैं' ऐसा अभी हमने (पृष्ठ-५९) आचारांग व्याख्या के अनुसार देखा है। बल्ब में तो जुगनू इत्यादि की भाँति अथवा नरक में पृथ्वीकाय वगैरह की भाँति किसी जीव से सहयोग प्राप्त होने की कोई संभावना तो है ही नहीं। सूर्य के विमान में रहते हुए पृथ्वीकाय जीव की तरह आतप-नामकर्म का उदय अथवा रत्न, मणि, चंद्र के विमान या जुगनू इत्यादि की तरह उद्योत-नामकर्म का उदय किसी बल्ब में नहीं होता। इसलिए सूर्यप्रकाश, चंद्रप्रकाश, जुगनू का प्रकाश इत्यादि की तरह बल्ब के प्रकाश को निर्जीव नहीं माना जा सकता।

आतपनामकर्म, उद्योतनामकर्म, तेजोलेश्या अथवा उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय के बिना अन्य किसी प्रकार से तो गरमी-प्रकाश इत्यादि की उत्पत्ति संभव नहीं है। बल्ब में सिर्फ विस्त्रसापरिणामजन्य गरमी, प्रकाश इत्यादि को मान नहीं सकते। (प्रस्तुत में आगमविद् प्राज्ञ पुरुषों को एक बात ज़रूर नोट करने योग्य है कि आकाशीय बिजली भी मात्र विस्त्रसापरिणामजन्य नहीं है, क्योंकि वह पन्नवणा, भगवतीसूत्र इत्यादि मूल आगम के अनुसार तेउकाय जीवस्वरूप होने से बिजली की उत्पत्ति में जीव का प्रयत्न भी सम्मिलित ही है। भगवती सूत्र आठवें शतक के प्रथम उद्देश में मिश्रपरिणाम युक्त (वेस्त्रसिक प्रायोगिक) जो द्रव्य बताए गए हैं उनमें ही आकाशीय बिजली इत्यादि को सम्मिलित करना उचित है) अन्यथा तो वह मनुष्य के प्रयत्न के बिना परमाणु गति की तरह कभी भी अथवा बादल की तरह निश्चित समय पर बल्ब में अपने आप उत्पन्न हो जाएँगे और चले जाएँगे-ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इसलिए पारिशेषन्याय से उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय वाले बादर अग्निकाय जीवों का ही वहाँ स्वीकार करना रहा, क्योंकि 'उष्ण-स्पर्शादिनामकर्मोदयाद् दीप्यते' इस प्रकार बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (भाग-३, गा. २१४६ वृत्ति) के वचन अनुसार उष्णस्पर्शादि नामकर्म के उदय से अग्नि प्रकाशित होती है-यह बात शास्त्र सिद्ध है।^{१३}

उत्तर:-हम इस लेख के प्रथम भाग के दूसरे प्रभाग में "जीव और पुद्गल का

संबंध'' - के अन्तर्गत इस विषय की विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। वहाँ यह स्पष्ट हो गया था कि बादल, बिजली आदि सभी सादि वैज्ञानिक बंध-परिणाम है।¹⁴

सर्वप्रथम तो यह समझना है कि सारी सृष्टि ही मूलतः तो जीव और पुद्गल के विविध संयोगों से ही चलती है।

जैन दर्शन के अनुसार-“जीव और पुद्गलों के विविध संयोगों से यह लोक विविध प्रकार का है। लोक की इस विविधरूपता को ही सृष्टि कहा जाता है। जीव और पुद्गल का संयोग अपश्चानुपूर्विक (पौर्वापर्यशून्य) है। संयोग तीन प्रकार का है-1. कर्म, 2. शरीर, 3. उपग्रह। उपग्रह-आहार, वाणी, मन, उच्छ्वासनिःश्वास आदि उपकारक शक्तियाँ।”¹⁴⁵

परम्पर या अनन्त रूप में सृष्टि की सभी क्रियाओं में जीव और पुद्गल का संयोग निमित्तभूत बनता है। इस माने में तो कोई भी पदार्थ निर्जीव नहीं माना जा सकता। मनुष्य द्वारा निःसृत तेजोलेश्या के पुद्गल के उष्मा एवं प्रकाश के लिए मनुष्य का आतपनामकर्म या उष्ण नामकर्म कहाँ तक जिम्मेदार हो सकता है? जीव के जो नाम कर्म उदय में आता है, वह उसके शरीर के साथ जुड़ता है। तेजो लेश्या के पुद्गल के प्रकाश और उष्णता छोड़ने वाले मनुष्य के नाम कर्म से कैसे जुड़ेगा? यदि जुड़ता ही है तो फिर इलेक्ट्रीसीटी की प्रक्रिया में प्रयुक्त पुद्गल भी परम्पर रूप में सुचालक पदार्थ (धातु) यानि पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा मुक्त पुद्गल माने जा सकते हैं। विद्युत् का उत्पादन मनुष्य द्वारा निर्मित यंत्रों से है, इसलिये क्या मनुष्य का नामकर्म उसके लिए जिम्मेदार माना जायेगा? यदि नहीं तो फिर तेजोलेश्या में मनुष्य के नामकर्म को कैसे जिम्मेदार माना जाएगा? जब जैन दर्शन विस्त्रसा परिणमन द्वारा अचित्त (निर्जीव) पुद्गलों के परिणमन को स्वीकृति दे रहा है, तो फिर उसके लिए केवल जीव को ही सर्वत्र जिम्मेदार मानना कहाँ तक संगत होगा?

जहाँ-जहाँ जीव का शरीर स्वयं आतप, उद्योत आदि के रूप में हैं वहाँ-वहाँ वह नामकर्म का उदय है, ऐसा अभिप्राय विभिन्न उद्धृत वचनों का समझना चाहिए। किन्तु जहाँ-जहाँ पुद्गल ऐसे रूप में हैं, वहाँ उन्हें पौद्गलिक परिणमन ही स्वीकार करना चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार बतलाए गए तीन प्रकार के परिणमनों में प्रायोगिक और मिश्र परिणमनों में अनन्तर रूप में जीव का कर्तृत्व होता है, किन्तु वैज्ञानिक परिणमन में अनन्तर रूप में केवल पौद्गलिक परिणमन ही कारणभूत होता है। ऊपर उद्धृत टिप्पण संख्या 41 में सूत्रकृतांग चूर्णि (10, 128, 129) के जो पाठ दिये गये हैं, उनमें नारक की अग्नि को स्वभाव से उष्ण एवं अचेतन बतलाया गया है। इन्हें अनन्तर रूप में जीव कृत नहीं माना जा सकता। प्रश्न में परंपर और अनन्तर के भेद को समझने की कोशिश नहीं की गई, इसीलिए सर्वत्र जीव के साथ सीधे ही पौद्गलिक परिणमनों को जोड़ा है। फिर तो बादल, जो अप्कायिक जीव का परिणमन है और जो आकाशीय बिजली के उत्पादक हैं, को भी मिश्र

परिणमन मानना चाहिए। पर बादल को तो वैज्ञानिक परिणमन में माना है। तब फिर अन्य पौद्गलिक परिणमनों को वैज्ञानिक मानने में कहाँ आपत्ति है? षट्खंडागम में सादि वैज्ञानिक बंध की चर्चा में इन्हें वैज्ञानिक ही माना गया है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। (देखें, प्रथम भाग, प्रथम प्रभाग)

इसलिए यह नियम बतलाना उचित नहीं है कि जीव के द्वारा परिणत होने पर ही पुद्गल प्रकाश आदि करते हैं। प्रश्न में उद्धृत भगवती 1-10-380 के पाठ से स्पष्ट है कि अजीव पुद्गलों में स्वयं यह शक्ति है। “तैजस वर्गणा को तैजस शरीर तक सीमित करना संगत नहीं है। जीव तैजस वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर तैजस शरीर में उनका परिणमन करता है, किंतु तैजस वर्गणा के समस्त पुद्गलों का जीव के द्वारा सदा-सर्वदा ग्रहण और परिणमन आवश्यक नहीं हैं।”⁴⁶

यहां यह कहना कि “बिजली इत्यादि किसी दूसरे पदार्थ का निर्जीव के रूप में उल्लेख नहीं है” तर्क-संगत नहीं है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—“तर्क की अपनी मर्यादा होती है। इस विषय में हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन की वृत्ति में उद्धृत श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिः, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः, यत्र तत्र मतिरेति निवेषम् ॥

अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। इसमें विद्युत् का उल्लेख नहीं है, यह प्रश्न यहाँ प्रासंगिक नहीं है। प्रासंगिक उतना ही है कि अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। वे जीव के द्वारा गृहीत हो चुके हैं, इसलिए प्रकाश करते हैं—यह तर्क भी संगत नहीं है। प्रकाश, आतप, उद्योत, छाया—ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

शब्द-बंध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।

(तत्त्वार्थवार्तिक 5,24)

सहंधयारउज्जोओ पहा छाया तवे इ वा।

वण्णरसगंधपासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ (उत्तरज्झयणाणि 28, 12)

अंधकार पुद्गल का लक्षण है, वह जीव के द्वारा गृहीत अंधकार नहीं बनता। प्रकाश पुद्गल का लक्षण है, वह जीव के द्वारा गृहीत होकर प्रकाश बनता है, यह कोई नियम नहीं है। पुद्गलों का परिणमन जीव के प्रयोग से भी होता है और स्वभाव से भी होता है।⁴⁷

यदि उक्त तर्क को माना जाए, फिर तो आगमों में वर्तमान युगीन विज्ञान आदि की सारी बातें आनी चाहिए थी। सर्वज्ञ होने के नाते उनसे वर्तमान की सारी घटनाएं छिपी नहीं है। फिर उन सबका वर्णन क्यों नहीं मिलता?

(क्रमशः)

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—जून, 2004

59

सन्दर्भ ग्रन्थ :

23. (a) Satish K. Gupta, op.cit., p. 502—

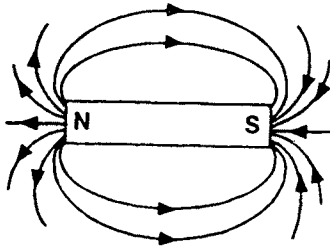
“MAGNETIC FIELD AND MAGNETIC FIELD LINES

Magnetic field. *The space around a magnet (or a conductor carrying current), in which its magnetic effect can be experienced, is called the magnetic field.*

The magnetic field in a region is said to be uniform, if the magnitude of its strength and direction is same at all the points in that region.

A uniform magnetic field is represented by equidistant parallel arrows.

The magnetic field of a bar magnet can be plotted by using a small compass needle. It is found that the magnetic field produced by a bar magnet and a current carrying straight solenoid are identical. Fig. shows the magnetic field produced by a bar magnet. It follows that magnetic field produced



by a current carrying straight solenoid is identical to that produced by a bar magnet. The magnetic field lines do not exist in reality. This hypothetical concept has been developed in order to visualize the strength of magnetic field in different regions and the effect of magnetic field. The regions, where the magnetic field lines are close enough (crowded), the magnetic field is considered as quite strong there.

2. Usually, the strength of magnetic field B is simply called magnetic field.

Magnetic field line. *The magnetic field line is the path along which an isolated north pole will tend to move, if it is free to do so.”*

(b) Text-Book of Physics (Std. XII) Part 2, Pages 39-42, 48, 49-

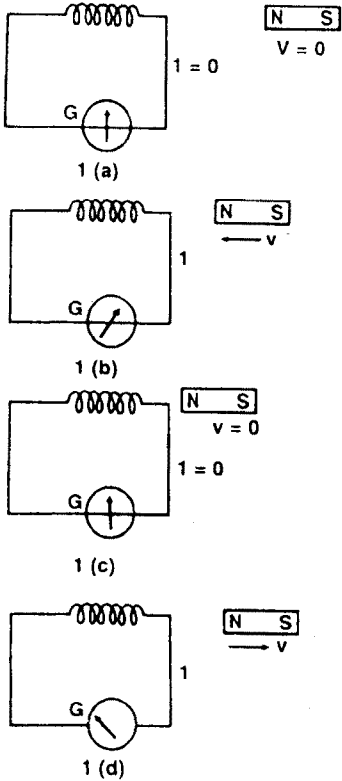
“The large scale supply of electrical power for the household and the

industrial uses is through a different process—conversion of mechanical energy to the electrical energy by means of suitable generators (turbines) in power houses. In this chapter we will learn about the principles involved in generation of power in this way, viz. The electromagnetic induction.

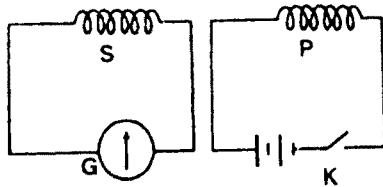
1. Electromagnetic Induction and Faraday's Experiments

A scientist named Michel Faraday discovered in the year 1831 that a change in the value of the magnetic flux linked with a conducting coil give rise to the induction of an electron motive force in the coil. The emf generated this way is called the induced emf. Fig.1 illustrates simple experiment which demonstrates the electromagnetic induction. In this experiment, a sensitive galvanometer is connected in series with a conducting coil.

In fig. 1(a), a bar magnet is held stationary with respect to the coil. No deflection of galvanometer is observed under this situation. Now if the bar magnet is quickly moved towards the coil, with one of its poles facing the coil, the galvanometer records a deflection, showing that some current flows through the coil. It is also seen that faster the magnet is moved, greater is the deflection of the galvanometer, Similar effects are also observed if the coil is moved keeping the magnet fixed. Again, deflection in opposite direction is observed. When the magnet is moved away, to that recorded when the magnet is moved towards the coil. If the galvanometer deflects on one side when a particular pole is facing the coil (say north pole), deflection of the opposite sense is recorded if the other pole is made to face the coil, when the magnet is brought near the coil. Also whenever, the coil and the magnet are stationary with respect to each other, no deflection is observed.



The above results can be understood as follows. When the bar magnet is near the coil some of the magnetic lines of force are passing through the coil; that is “some magnetic flux is linked with the coil”. Now when there is relative motion between the coil and the magnet, the amount of flux linked with the coil is changing. When the relative motion stops, there is no further change in the amount of the flux linked. So we conclude that, “when there is a change in the flux linked with the coil, there is an emf generated in the coil”. The observation that a faster motion of the magnet gives rise to a larger deflection, shows that the emf generated depends upon the rate of change of the flux linking the coil. The current resulting from this “induced emf” is called the “induced current”. To cause the change in the flux linked with the coil, it is not necessary to have a bar magnet. If two coils S and P are placed near each other as shown in fig. 2; and a key connected in the circuit of the coil P is switched on and off so that current alternately flows and stops flowing through the coil P, the galvanometer connected in the circuit with the coil S alternately shows a deflection on one and the other side. Further, if a steady current is maintained in the coil P and the two coils are moved relative to each other, then also a current is induced in the coil S. Here, it is the flux generated by the current in the coil P that links with the coil S and a change in that flux causes an induced emf in the coil S.

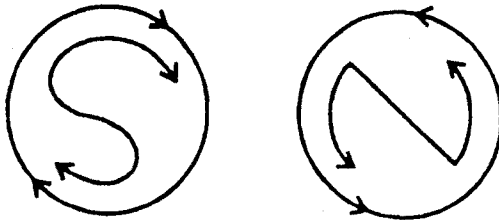


2. Lenz’s Law

We have yet not said anything regarding the magnitude and the direction of the induced emf. This direction of emf and the resulting direction of the induced current can be inferred from the considerations based on the principle of conservation of energy and this leads us to Lenz’s law.

When a current flows in a coil magnetic flux is produced due to this current and the coil now acts as a magnet. Which face of the coil acts like a north pole and which face becomes a south pole depends upon the direction of the current in the coil.

Fig.3 shows a cross section of the coil. Looking at the coil if the current appears to be flowing through it in a counterclockwise direction, then the side of the coil facing the observer is its north pole. If the current appears Clockwise then the side towards the observer is the south pole. This is made clear in fig. 3.



Consider moving a bar magnet with its north pole towards the coil. When the magnet is moved towards the coil, if the induced current is such that the side of the coil facing the magnet becomes a south pole, then there would be a force of attraction between the magnet and the coil. and due to this force magnet would be further drawn nearer. Thus, the induced current would be generated without doing work. Heat² energy can now be obtained by connecting a resistance to its circuit, without spending any mechanical energy. One can see that this violates the conservation of energy. So, when a north pole of the magnet is brought near the coil. the side of the coil towards the magnet must become the north pole, so that the induced current resists the motion of the magnet. It is the work done is moving the magnet against this force, that gets converted to the electrical energy and can be used, for example to generate the heat energy as I^2Rz . Thus, we see that the direction of the induced current and the corresponding direction of the resulting magnetic field is a consequence of the conservation of energy. This leads us to Lenz's law which states :

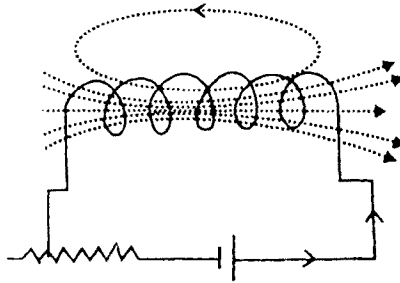
“If an agency generates an induced emf through its action (such as motion of the magnet as illustrated) the induced emf would be such that the current produced by this emf would generate a magnetic field such as to oppose the action of the agency.”

3. Faraday's Law

Faraday gave the law relating the induced emf in a circuit with the rate of change of the flux as “the negative time rate of change of magnetic flux linked with a circuit is equal to the induced emf in the circuit.”

4. Self Induction

We have learnt that when a current passes through a coil, some magnetic field is created so that the coil itself behaves like a magnet. The magnetic flux produced by the current in the coil is linked with the coil itself (fig. 8), and when the current in the coil changes, this flux linked with the coil also changes. Under such circumstances also, there would be an emf induced in the coil which is called the self induction". If the number of turns in a coil is N and the flux linked with each turn is (Φ) , then the total flux linked with the coil is $N(\Phi)$



The parameter L (i.e., total flux due to unit current) here is called the self-inductance of the coil. Its value depends upon the size and shape of the coil as well as the number of turns. It also depends upon the magnetic property of the medium of the space within the coil, e.g., if the coil is wound around a soft iron core (after ensuring proper insulation) it attains a very large value.

24. जैसे फोटोन कण और तरंग दोनों रूप में व्यवहार करते हैं, वैसे ही इलेक्ट्रॉन भी कण और तरंग दोनों रूप में व्यवहार करते हैं। इस तथ्य को भौतिकशास्त्र में इस प्रकार समझाया गया है -

Satish K. Gupta, op. cit., pp. 1093, 1094-

Dual Nature of Radiation

The phenomena such as interference, diffraction and polarisation were successfully explained on the basis of wave nature of light. On the other hand, photoelectric effect, Compton effect, etc. can be explained on the basis of quantum nature of radiation. For instance, in photoelectric effect, when a photon of radiation strikes a metal surface, it gives up all its energy to a single electron in an atom and the electron is knocked out of the metal. It carries a part of the energy of the incident photon. In Compton effect, when an X-ray photon is incident on a free electron, the electron recoils along a definite direction with

some energy depending upon the direction along which incident photon is scattered. From these two effects, it appears as if a particle (photon of radiation) is colliding against and another particle (electron). Hence, it became necessary to assume that in photoelectric effect and Compton effect, radiation exhibits particle nature.

The various phenomena concerning radiation can be divided into three parts :

- (i) The phenomena such as interference, diffraction, polarisation, etc. in which interaction of radiations takes places with radiation itself. Such phenomena can be explained on the basis of electro-magnetic (wave) nature of radiation only.
- (ii) The phenomena such as photoelectric effect, Compton effect, etc. in which interaction of radiations takes place with radiation itself. Such phenomena can be explained on the basis of quantum (particle) nature of radiation.
- (iii) The phenomena such as rectilinear propagation, reflection, refraction, etc. in which the interaction of radiation takes place neither with itself, nor with matter. Such phenomena can be explained on the basis of either of the two natures of the radiation.

It may be pointed out that in a particular experiment, radiation has a particular nature i.e. either it possesses wave nature or particle nature.

De-Broglie Waves

Radiation behaves both as wave and particle. In 1924, Louis de-Broglie put forward a hypothesis that matter should also possess dual nature.

The following observations led him to the duality hypothesis for matter:

1. *The whole energy in this universe is in the form of matter and electromagnetic radiation.*
2. *The nature loves symmetry. As the radiation has got dual nature, matter should also possess dual nature.*

Thus, according to de-Broglie, a wave is associated with every moving particle. These waves called *de-Broglie waves* or *matter waves*.

According to quantum theory of radiation, energy of a photon is given by $E = h\nu$

Therefore, the wavelength of the photon is given by

$\lambda = h/p$ (p is momentum).

de-Broglie asserted that the equation is completely a general formula and applies to photons as well as other moving particles. The momentum of a particle of mass m moving with velocity v is mv . Hence, de-Broglie wavelength is given by

$$\lambda = h/mv$$

This is called *de-Broglie relation*. It connects the *momentum*, which is *characteristic of the particle* with the *wavelength*, which is *characteristic of the wave*.

25. (a) तरल पदार्थों में विद्युत्-प्रवाह को प्रवाहित कर रासायनिक प्रभाव से 'इलेक्ट्रोलाइसिस' के द्वारा रासायनिक बेटेरियों में विद्युत् उत्पन्न किया जाता है। इसे समझने के लिए देखें - Satish K. Gupta, op.cit., p. 346—

Chemical Effect of Electric Currents

If electric current is passed through a liquid, it may or it may not allow even the passage of current through it. In fact, on the basis of their electric behaviour, the liquids may be divided into three classes :

- (i) The liquids which do not allow current to pass through them. For example, distilled water, vegetable oil, etc.
- (ii) The liquids which allow current through them but do not dissociate into ions. For example, mercury.
- (iii) The liquids which allow current through them by dissociating into ions. For example, salt solutions, acids and bases. Such liquids are called electrolytes.

The process of dissociation of a liquid into ions on passing current through it is called electrolysis.

Therefore, passage of electric current through the electrolytes produces chemical effect.

Electrolyte

The substances, which dissociate into ions and when in solution form, allow electric current to pass through them, are called electrolytes. For example, acids, bases, acidulated water, salt solution, such as copper sulphate, silver nitrate, etc.

On the basis of their behaviour towards the passage of electric current,

the electrolytes are of the following two types :

1. **Strong electrolytes.** Those electrolytes, which are more or less completely ionised in their solutions, are called strong electrolytes. For example, HCl, NaOH and NaCl.
2. **Weak electrolytes.** Those electrolytes, which are ionized to a small extent in their solutions, are called weak electrolytes. For example, NH_4Cl , CH_3COOH and H_2CO_3 .

Electrolysis

The process of liberating free elements from an electrolytic solution, when electric current is passed through it, is called electrolysis,

When an electrolyte, such as copper sulphate (CuSO_4) is dissolved in water, it dissociates into ions.

Consider that the copper sulphate solution is taken in a vessel and current is passed through it by two electrodes and a source of e.m.f. The electrode, through which the current enters the electrolytic solutions is called *anode*, while the other electrode, through which current leaves, is called *cathode*.

On passing current, Cu^{++} ions drift to the cathode, while SO_4^{--} ions towards the anode. At the cathode, Cu^{++} ions discharge themselves and copper atoms are liberated at the cathode.”

(b) Satish K. Gupta, op. cit. Pages 212-216 (Voltaic Cell, Daniel Cell, Leclanche Cell) “In voltaic cell, for each Zn^{++} ion so produced, two electrons ($2e^-$) are left on the zinc rod. As more and more Zn^{++} ions enter the electrolyte, the zinc rod becomes more and more negative. Also, the concentration of Zn^{++} ions in the electrolyte goes on increasing. The H^+ drift to the copper rod. On reaching the copper rod, the H^+ ions extract electrons from the rod and form neutral hydrogen atoms. As a result of it copper rod acquires positive charges. As more and more H^+ ions discharge at the copper rod, it becomes more and more positive. Due to positive charges building up on copper rod and negative charge on the zinc rod, the potential difference between the two rods goes on increasing. It continues, till the potential gradient along the electrolyte between copper and zinc rod just restricts the drift of H^+ ions to the copper rod.

Daniel Cell

It was developed by Daniel in the year 1836.

Construction. It consists of a copper vessel containing copper sulphate (CuSO_4) solution. The copper vessel itself acts as the positive pole of the cell, Inside the CuSO_4 solution, a porous pot containing an amalgamated zinc rod and dilute H_2SO_4 acid is placed. Whereas the porous pot prevents the dilute H_2SO_4 and CuSO_4 solution from mixing with each other, it allows the H^+ ions produced in the porous pot to diffuse through its walls into the CuSO_4 solution. The amalgamated zinc rod is used in order to avoid the defect of local action from occurring in the cell. The amalgamated zinc rod acts as the negative pole of the cell and both the CuSO_4 solution and dil, H_2SO_4 serve as the electrolyte. However, the CuSO_4 solution serves as depolariser also.

When the cell functions, the concentration of CuSO_4 solution falls. In order to keep the concentration of CuSO_4 solution constant, thin crystals of CuSO_4 are placed on the perforated shelf provided along walls of the copper vessel.

Action, Inside the porous pot, the dilute H_2SO_4 acid dissociates into H^+ and SO_4^- ions. As the rod is dipping inside the dilute H_2SO_4 acid, some of the zinc atoms go into the solution as Zn^{++} ions. In each Zn^{++} ion going into the solution, two electrons are left on the zinc rod. As the concentration Zn^{++} ions in the solution increases, zinc rod becomes more and more negative and the H^+ ions diffuse through the walls of the porous pot into the CuSO_4 solution.

The formation of ZnSO_4 on the porous pot does not affect the working of the cell, until crystals of ZnSO_4 are deposited along its walls.

As the Cu^{++} ions deposit on the copper vessel, it acquires positive charge. Due to building up of the positive charge on the copper vessel and negative charge on the zinc rod, the potential difference between the two poles of the cell goes on increasing.

Leclanche cell

It was invented by George Leclanche in the year 1865.

Construction. It consists of a glass vessel containing (NH_4Cl) as electrolyte. An amalgamated zinc rod dipping in the NH_4Cl solution acts as the negative pole of the cell. The use of amalgamated zinc rod avoids the defect of local action from occurring in the cell. A porous pot containing the carbon rod is placed inside the NH_4Cl solution. The carbon rod acts as the positive pole of the cell. The empty space in the porous pot is filled with manganese dioxide (MnO_2) and charcoal powder

Manganese dioxide is used as depolariser. The use of charcoal powder makes MnO_2 conduction and thus, decreases the internal resistance of the cell.

Action. The electrolyte NH_4Cl solution dissociates into NH_4^+ and Cl^- ions. As zinc rod is dipping inside the NH_4Cl solution, some of the atoms go into the solution as Zn^{++} ions. For each Zn^{++} ion so produced, two electrons are left on the zinc rod and hence it becomes negative pole of the cell. The NH_4^+ ions are repelled by Zn^{++} ions and they diffuse into the MnO_2 and charcoal mixture through the walls of the porous pot. Inside the glass vessel, Zn^{++} ions combine with Cl^- ions to form ZnCl_2 .

On diffusing into porous pot, NH_4^+ ions extract electrons from the carbon rod making carbon rod as positively charged and producing ammonia and hydrogen gas.

Whereas the ammonia gas escapes from the cell, hydrogen gas is neutralised by MnO_2 producing manganese trioxide (Mn_2O_3) and water.

Secondary Cells

A secondary cell is one in which chemical energy is converted into electrical energy but they do so when they are charged by passing current through them by some source.

These are also called accumulators or storage cells. These are of two types:

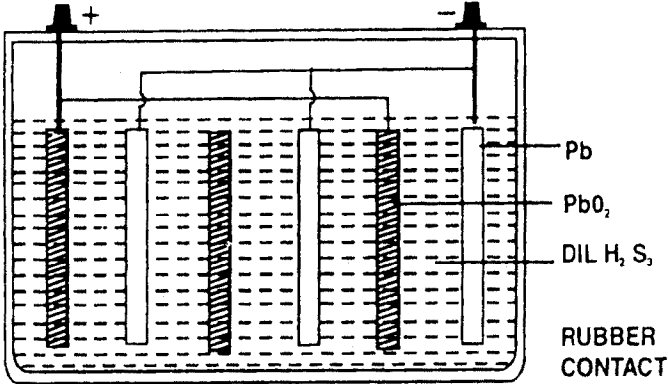
1. Lead acid cell or lead accumulator,
2. Edison alkali cell

Lead Accumulator

It is a secondary cell and is the most common type of storage battery used in automobiles. It is known as lead acid cell. It was invented by French Physicist, Gaston Plante in the year 1859.

Construction. It consists of a hard rubber, glass or celluloid container containing dilute sulphuric acid as the electrolyte. Each of the two electrodes consists of a set of alternate parallel mesh type perforated plates made of lead. The set of plates to be made the positive pole is filled with a paste of lead dioxide (PbO_2), while the set of plates to be made the negative pole is filled with a paste of spongy lead (Pb .) The positive and negative plates are kept separated and insulated from each

other by porous separators made of rubber, plastic or glass fibre. This arrangement of positive and negative plates is placed inside the dilute sulphuric acid and connected to the lead terminals provided on the hard and rigid cover of the container [Fig.].



The e.m.f. of each cell of a fully charged lead accumulator is 2.05 V and a lead accumulator of each six cells produces an e.m.f. of nearly 12 V. The specific gravity of the electrolyte (dilute sulphuric acid) in a fully charged lead accumulator is 1.28. However, when discharged, both the e.m.f. of the cell and the specific gravity of the electrolyte fall. Whereas, e.m.f. of a cell of the accumulator should not be allowed to fall below 1.8 V, the specific gravity of the electrolyte should not drop below 1.12.”

26. Satish K. Gupta. op. cit. pp. 1092, 1093-

“Photoelectric Cells

A photoelectric cell is an arrangement which converts light energy into electrical energy.

Photoelectric cells are of following three types :

1. Photoemissive cells, 2. Photovoltaic cells, 3. Photoconductive cells.
2. A photoemissive cell may be of vacuum type or gas filled type.
Let us discuss the working of a photoemissive cell.

Photoemissive cell. It consists of two electrodes, a cathode C and an anode A enclosed in a highly evacuated glass bulb. The cathode C is a semi-cylindrical plate coated with a photosensitive material, such as a layer of cesium deposited on silver oxide. The anode A is in the form

of a wire, so that it does not obstruct the path of the light falling on the cathode.

When light of frequency above the threshold frequency for the cathode surface is incident on the cathode, photoelectrons are emitted. If a potential difference of about 10 V is applied between the anode and cathode, the photoelectrons are attracted towards the anode and the microammeter connected in the circuit will record the current.

The chief advantage of this type of photocell is that there is no time-lag between the incident light and the emission of photoelectrons and that the photoelectric current is proportional to the intensity of light. The cell is extremely accurate in response. Hence, it is used in television and photometry.

The current may be increased by a factor of about 5 by filling the tube with an inert gas at a pressure of a few mm of mercury. When the potential difference between the electrodes exceeds the ionisation potential of the gas, the emitted photoelectrons ionise the gas atoms and now a larger current flows.

Applications of Photoelectric Cells

Photoelectric cells have a variety of application in industries and the daily life. A few important applications of photoelectric cells are as given below;

1. It is used for the reproduction of sound from the sound track recorded on one edge of the cinema films.
2. It is used in a television studio to convert the light and shade of the object into electric currents for transmission of picture.
3. It is used in a photographic camera for the automatic adjustment of aperture.
4. It is used to compare the illuminating powers of two sources of light and to measure the illumination of a surface.
5. It is used for automatic counting of the number of persons entering a hall, a stadium, etc.
6. It is used for automatic switching of street lights and traffic signals.
7. It is used for raising a fire alarm in the event of accidental fire in buildings, factories, etc.
8. It is used in burglar's alarms for houses, banks and treasuries.

9. A photo cell is also used in industries to locate flaws in metal sheets.
10. It is also used to control the temperature during a chemical reaction and that of a furnace.
11. A photocell can be used in determining the opacity of solids and liquids.”

27. (a) डॉ. जे. जैन, पूर्व उद्धृत लेख, पृष्ठ 13-

“प्रकाशीय विद्युत् : (सौर-बेटरी) :

फोटो वोल्टिक सेल में विद्युत्- e.m.f. केवल दृश्य प्रकाश की किरणों से पैदा हो सकता है। ये बिना दूसरी बेटरी के ही विद्युत् धारा पैदा कर सकते हैं।”

(b) वही, पृष्ठ 28, 29-

“अग्नि से जो ताप-ऊर्जा या प्रकाश-ऊर्जा पैदा होती है, वो बिजली-ऊर्जा से पैदा होने वाली ताप व प्रकाश ऊर्जा के समान तो जरूर है, लेकिन दोनों के उद्गम अलग-अलग हैं।

“पहले में यानि ‘अग्नि’ में रासायनिक-प्रक्रिया (ऑक्सीकरण या जलना) होना जरूरी है। उसी जलने की प्रक्रिया से ताप व प्रकाश की ऊर्जा पैदा होती है।

“लेकिन विद्युत्-ऊर्जा किसी चुम्बकीय क्षेत्र में सुचालक के घूमने से पैदा होती है (जेनेरेटर), या किसी अन्य तरीकों से ‘दबाव-अंतर’ पैदा किया जाता है, जैसे घर्षण से (एम्बर या एबोनाइट) या दो पदार्थों के बीच तापक्रम के अंतर से (थर्मोकपल) आदि।

“यहां यह भी विचार करना उचित होगा कि ‘सच्चित्त अग्नि’ के ताप की भांति ही ‘प्रकाश-ऊर्जा’ या अन्य ऊर्जा-स्रोतों से भी उपरोक्त काम हो सकते हैं क्या? जैसे सूर्य के प्रकाश से ताप पैदा होता है, उससे खाना सेका व बनाया जाता है (सौर्य उष्मक), मशीनें चलती हैं, आदि। सूर्य की रोशनी से सीधे विद्युत्-ऊर्जा बनाई जा सकती है-(सौर सेल) जिससे इलेक्ट्रॉनिक सेल घड़ी या केलकुलेटर चलते हैं। तो क्या यह ‘सूर्य का प्रकाश’ सच्चित्त है? उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर तो इसका उत्तर होगा ‘नहीं’। उसी प्रकार बिजली के प्रवाह से ताप पैदा हो सकता है यानि पदार्थ का तापक्रम बढ़ सकता है, तो भी सूर्य की प्रकाश-ऊर्जा के माफिक यह भी अचित्त ऊर्जा हो सकती है।

केवल इस कारण से कि ‘सच्चित्त अग्नि’ में ‘गरम’ करने की क्षमता है या प्रकाश पैदा करने की क्षमता है, दूसरे प्रकार की ऊर्जा, जो दूसरों को गरम कर सकती है, ‘सच्चित्त अग्नि’ की श्रेणी में होना जरूरी है, वर्षा हो सकती है, बिजली पैदा हो सकती है।

“उसी (सूर्य) विकिरण में जो अवरक्त किरणें यहां पहुंचती हैं, वे पृथ्वी, वायु और जल को गरम करती हैं। लेकिन यह विकिरण यानि सूर्य का प्रकाश व अवरक्त किरणें स्वयं सच्चित्त अग्निकाय नहीं हैं।”

“इस तरह बिजली अग्नि का ‘महापुंज’ है और साधारण अग्नि से भी महान् कार्य करने वाली ऊर्जा होते हुए भी (हालांकि ताप-बिजली घरों में ताप-ऊर्जा का 60-70 प्रतिशत ही बिजली की ऊर्जा

में परिवर्तन हो पाता है-यानि बिजली-ऊर्जा पैदा करने के लिए कहीं ज्यादा ताप ऊर्जा व्यय की जाती है।) ये ऊर्जाएं किसी पदार्थ को केवल तभी संचित बनाती हैं, जब कुछ आवश्यक शर्तें पूरी हो जाती हैं अन्यथा उपरोक्त संदर्भ में खुद का अचित्त ऊर्जा होना ही सिद्ध होता है।”

28. Satish K. Gupta, op. Cit., pp. 215, 216-

Dry Cell

It is portable form of a Leclanche cell.

Construction. In a dry cell, a moist paste of ammonium chloride containing zinc chloride is used as an electrolyte. Zinc chloride being highly hygroscopic, it is added to ammonium chloride in order to keep moistened. The paste of NH_4Cl and ZnCl_2 is contained in a small cylindrical zinc vessel, which acts as the negative pole of the cell. A carbon rod fitted with a brass cap is placed in the middle of the zinc vessel. It acts as the positive pole of the cell. The carbon rod is surrounded by a closely packed mixture of MnO_2 and charcoal powder in a muslin bag. While the MnO_2 acts as depolariser, the charcoal powder reduces the internal resistance of the cell by making MnO_2 electrically conducting. The zinc container and its contents are sealed at the top with pitch of shellac. A small hole is provided at the top, so as to ammonia gas formed during chemical reaction to help escape the cell.

Action. A dry cell is only a modification of a wet Leclanche cell. Therefore, the action of a dry as regards the chemical reactions that take place are same as in case of Leclanche cell.

The dry cells are manufactured in different sizes and shapes to suit particular needs. Irrespective of the size of the cell, the e.m.f. of the cell is nearly 1.5 V. Its internal resistance may vary from 0.10 to 10 Ω . Further, an electric current of about 0.25 A can be continuously drawn from a dry cell.

29. मुनि यशोविजयी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 43-47

30. वही, पृष्ठ 47-51

31. (a) आचार्य श्री महाप्रज्ञजी, विद्युत् : संचित या अचित्त, जैन भारती (मासिक), दिसंबर, 2002, पृष्ठ 15, 16 पर भगवती 7 229, 230 से उद्धृत-

अचित्त पुद्गल : प्रकाश और ताप

अत्थि णं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति ? उज्जोवेंति ? तवेंति ?

पभासेंति ?

हंता अत्थि ।

कयरे णं भंते ! ते अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति ? उज्जोवेत्ति ? तवेत्ते ? पभासेत्ति ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेय-लेस्या निसट्ठा समाणी दूरं गता दूरं निपतति, देसं गता देसं निपतति, जहिं जहिं च णं सा निपतति तहिं-तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति । एतेणं कालोदाई !

ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति । (भगवई 7/229, 230)

भंते ! क्या अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं ? उद्योतित करते हैं ? तप्त करते हैं ? प्रभासित करते हैं ?

हां, करते हैं ।

भंते ! वे कौन-से अचित्त पुद्गल वस्तु को अवभासित करते हैं ? उद्योतित करते हैं ? तप्त करते हैं ? प्रभासित करते हैं ?

कालोदाई ! कुद्ध अनगार ने तेजोलेश्या का निसर्जन किया, वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में जाकर पार्श्व देश में गिरती है । वह जहां-जहां गिरती है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं । कालोदाई ! इस प्रकार से अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं ।”

कुछ विचारक होते हैं-इसमें विद्युत् का नाम नहीं है । प्रश्न नाम होने का नहीं है । मूल प्रतिपाद्य यह है-‘अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं, तप्त करते हैं ।’ उस स्थिति में यह व्याप्ति नहीं बनती कि जिसमें दाहकता है, प्रकाश है, ताप है, वह सचित्त ही होता है ।”

(b) भगवती सूत्र, शतक 15, सूत्र 121-

“अज्जोति ! समणे भगणं महावीरे समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-जावतिए णं अज्जो ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं मम वहाए सरीरगंसि तेये निसट्ठे से णं अलाहि पज्जते सोलसणं जणवयाणं, तं जहा-
1. अंगाणं, 2. बंगाणं, 3. मगहाणं, 4. मलयाणं, 5. मावगाणं, 6. अच्छाणं, 7. वच्छाणं, 8. कोच्छाणं, 9. पाढाणं, 10. लाढाणं, 11. वज्जीणं, 12. मोलीणं, 13. कासीणं, 14. कोसलाणं, 15. अवाहाणं, 16. सुंभुत्तराणं घाताए वाहाए उच्छादणयाए भासीकरणयाए ।”

(c) आचार्य महाप्रज्ञ, पूर्व उद्धृत लेख, पृष्ठ 19-

“इंदभूती नाम अणगारे गोयमसगोते.....संखित्तविउलतेयलेसे.... । (भगवती 1/9)

संक्षिप्ता-शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतांगता, विपुला-विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाण-क्षेत्राश्रितवस्तुदहन-समर्थत्वात्तेजोलेश्या-विशिष्टतपोजन्यलब्धि विशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । (भ.वृ. 1/9)

वृत्तिकार ने तेजोलेश्या का अर्थ तेजो-ज्वाला किया है । यहां तेजोलेश्या का प्रयोग एक ऋद्धि (लब्धि या योगज विभूति) के अर्थ में हुआ है ।

ठाण के अनुसार यह ऋद्धि तीन कारणों से उपलब्ध होती है । इसकी तुलना हठयोग की कुंडलिनी

से की जा सकती है। कुंडलिनी की दो अवस्थाएं होती हैं— सुप्त और जागृत। तेजोलेण्या की भी दो अवस्थाएं होती हैं—संक्षिप्त और विपुल। इसके द्वारा हजारों किलोमीटर में अविस्थित वस्तु को भस्म किया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत दूर तक अनुग्रह भी किया जा सकता है। इसके द्वारा अनुग्रह और निग्रह दोनों किए जा सकते हैं।”

“ भगवती वृत्ति में तेजोलेण्या को अग्निसदृश द्रव्य कहा गया है। (भ.वृ. पत्र 642-तदग्निसदृश-द्रव्यान्तराऽपेक्षयावसेयं संभवन्ति तथाविधशक्ति-मन्ति द्रव्याणि तेजोलेण्याद्रव्यवदिति ।)”

32. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 51, 52

33. आचार्य महाप्रज्ञ, पूर्व उद्धृत लेख पृष्ठ 15, 16-

“ भगवती का एक और उल्लेख है कि दिन में पुद्गल शुभ रूप में परिणत हो जाते हैं और रात्रि में वे अशुभ रूप में परिणत होते हैं। नैयायिक आदि अंधकार को अभाव रूप में मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार वह पुद्गल का परिणाम है। जैसे अंधकार पुद्गल का परिणाम है, वैसे ही प्रकाश भी पुद्गल का परिणाम है। भगवती का पूर्ण पाठ इस प्रकार है-

-‘से नूणं भंते! दिया उज्जोए? राइं अंधयारे?’

हंता गोयमा! दिया उज्जोए। रायं अंधयारे ॥

से केणट्टेणं ?

गोयमा! दिया सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे, राइं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे। से तेणट्टेणं ॥ (भगवई 5/237-238)

‘भंते! क्या दिन में उद्योत और रात्रि अंधकार है?’

‘हां, गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अंधकार है।’

‘यह किस अपेक्षा से?’

‘गौतम! दिन में शुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है। रात्रि में अशुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन अशुभ होता है-यह इस अपेक्षा से।’

दिन में सूर्यरश्मियों के संपर्क से पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है। इसलिए दिन में उद्योत होता है। रात्रि में सूर्यरश्मि तथा अन्य प्रकाशक वस्तुओं के अभाव में पुद्गलों का परिणमन अशुभ होता जाता है।

प्रस्तुत आलापक में उद्योत और अंधकार का अनेक अपेक्षाओं से निरूपण किया गया है। नरक में पुद्गलों का अशुभ परिणमन होने के कारण निरंतर अंधकार रहता है। वृत्तिकार के अनुसार पुद्गल की शुभ परिणति के निमित्तभूत सूर्यकिरण आदि प्रकाशक वस्तु का अभाव है। दिवसे शुभः पुद्गलता भवन्ति, किमुक्तं भवति ?-शुभः पुद्गलपरिणामः स चार्ककरसम्पर्कात्। (भ.वृ. 5/238)”

34. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 52, 53

35. A.K. Shaha, op.cit., pages 121, 122

36. वही, pages 120, 121-

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—जून, 2004

75

“The limits of inflammability

There is a particular limit to excess air or oxygen in combustion of each kind of the gas and when this limit is surpassed the gas becomes non-inflammable. Similarly there is also a particular lower limit of deficient air of oxygen required for combustion of each kind of the gas and when this limit is transgressed, the gas becomes non-inflammable. Table 3.8 illustrates both the upper and the lower limits of inflammability.

TABLE 3.8

Limits of Inflammability of Gases in Air

(At ordinary temperatures and at atmospheric pressure)

Gas	Limits as percent by volume in air	
	Percent lower limit mixture	Percent upper limit mixture
Hydrogen (H ₂)	6.2	71.4
Carbon monoxide (CO)	16.3	71.2
Coal gas	7	21
Coke-Oven gas	7	21
Blue water gas	12	67
Blast-furnace gas	36	65
Methane (CH ₄)	5.8	13.3
Ethane (C ₂ H ₆)	3.3	10.6
Ethylene (C ₂ H ₄)	3.4	14.1
Ethyl alcohol (C ₂ H ₅ OH)	3.7	13.7
Benzene (C ₆ H ₆)	1.4	5.5
Pentane (C ₅ H ₁₂)	1.3	4.9
Ether (C ₂ H ₅) ₂ O	1.6	7.7

37. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 53, 54

38. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/24-

“शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥”

“(शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमः-छाया-आतप-उद्योतवन्तश्च पुद्गल भवन्ति ।)”

39. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 54-57

40. आचार्य तुलसी, भिक्षुन्यायकर्णिका, 1/5, 6,8-

“व्यवच्छेदकधर्मो लक्षणम् ॥ 5 ॥

(वृत्ति-वस्तुनो व्यवस्थापनहेतुभूतो धर्मो लक्ष्यं व्यवच्छिनत्ति-सांकीर्ण्यमपनयतीति लक्षणम्)

अव्यास-अतिव्यास-असंभविनस्तदाभासाः ॥ 6 ॥

(वृत्ति-अतत् तदिव आभासते इति तदाभासः लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्यासः ॥ 8 ॥)

(वृत्ति-यथा-वायुर्गतिस्त्वम्)

अनुवाद-“एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से पृथक् करने वाला धर्म लक्षण है ॥ 5 ॥

(वृत्ति-वस्तु के व्यवस्थापन में हेतुभूत धर्म, जो लक्ष्य को शेष से व्यवच्छिन्न करता है-दूसरों से उसे पृथक् करता है, वह लक्षण है ।)

“अव्यास, अतिव्यास और असंभवी-ये तीन लक्षणाभास हैं ।” ॥ 6 ॥

(वृत्ति-जो लक्षण नहीं है पर लक्षण जैसा प्रतीत होता है, उसे लक्षणाभास कहा जाता है ।)

“जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में मिलता है वह अतिव्यास लक्षणाभास है ।” ॥ 8 ॥

(वृत्ति-जैसे-वायु का लक्षण गतिशीलता ।)”

41. आचार्य महाप्रज्ञ, पूर्व उद्धृत लेख, पृष्ठ 14-19-

विद्युत् : सचित्त या अचित्त

वर्तमान युग बिजली का युग है । इस विषय में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं-

1. बिजली अग्नि है या नहीं ?

2. बिजली सचित्त है या अचित्त ?

इस विषय पर विभज्यवादी शैली से विचार करना आवश्यक है ।

अग्नि के मुख्य धर्म पांच हैं-1. ज्वलनशीलता, 2. दाहकता, 3. ताप, 4. प्रकाश, 5. पाकशक्ति । नरक में जो अग्नि है वह ज्वलनशील भी है (सूयगडो 1/5/11), दाहक भी है (सूयगडो 1/5/12), उसमें ताप (सूयगडो 1/5/13) और प्रकाश भी है । पाक शक्ति भी है (सूयगडो 1/5/15)-फिर भी वह निर्जीव है, अचित्त है ।

सजीव अग्नि काय सिर्फ मनुष्य-क्षेत्र में होती है । मनुष्य-क्षेत्र से बाहर सजीव अग्नि नहीं होती । सूत्रकृतांग में उसे अकाष्ठ अग्नि-ईंधन के बिना होने वाली अग्नि बताया है । (सूयगडो 1/5/38)”

“नरक में होने वाली अग्नि, तेजोलेश्या के प्रयोग के समय निकलने वाली ज्वाला जैसे अचित्त और निर्जीव अग्नि है, वैसे ही विद्युत् भी अचित्त और निर्जीव अग्नि है-यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है । षड्जीवनि काय में आने वाला सजीव अग्नि काय नहीं है ।”

“अग्नि नहीं, अग्नि सदृश द्रव्य

तत्त्व णं जे से विग्गहगति समावन्नए नेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा । (भगवई 14/54, 55)

नारकक्षेत्रे बादराग्नि कायस्याभावात्, मनुष्यक्षेत्रे एवं तद्भावात्, यच्चोत्तराध्ययनादिषु श्रूयते-‘हुयासणे जलंतंमि दडुपुव्वो अणेगसो ।’ इत्यादि तदग्नि सदृश द्रव्यान्तरापेक्षयथावसेयं, संभवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति । (भगवई टीका 14/54/55)

अचित्त अग्नि

इंगालरासिं जलियं सजोई, तओवमं भूमिमणुक्कमंता ।

ते उञ्जमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्थ चिरट्टिईया ॥ (सूयगडो 5/1/7)

वे जलती हुई ज्योति सहित अंगारराशि के समान भूमि पर चलते हैं। उसके ताप से जलते हुए वे चिल्ला-चिल्लाकर करुण क्रंदन करते हैं। वे चिरकाल तक उस नरक में रहते हैं।

इंगालरासिं

जथा इंगालरासी जलितो धगधगेति एवं ते नरकाः स्वभावोष्णा एव ण पुण तत्थ बादरो अग्रणी अत्थि, णऽण्णस्थ विग्गहगति समावण्णएहिं । ते पुण उसिणपरिणता पोगगला जंतवाऽचुल्लीओ वि उसिणतरा (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 128)

तत्र बादरानेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम् अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना । (सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र 129)

विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद्, निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति । (चूर्णि, पृ. 136)

वैक्रियकालभवा अग्नयः अघट्टिता पातालस्था अप्यनवस्था । (चूर्णि, पृ. 137)

नरक में बादर अग्नि नहीं होती। वहां के कुछ स्थानों के पुद्गल स्वतः उष्ण होते हैं। वे भट्टी की आग से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अचित्त अग्निकाय के पुद्गल हैं। हमारी अग्नि से उस अग्नि की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वहां अग्नि का ताप महानगरदाह की अग्नि से उत्पन्न ताप से बहुत तीव्र होता है।

पैंतीसवें तथा अड़तीसवें श्लोक में भी बिना काठ की अग्नि का उल्लेख है। उसकी उत्पत्ति वैक्रिय से होती है। यह अचित्त अग्नि है।

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेंति महालयंसि ।

कलंबुयासवालुयमुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति य तत्थ अण्णे ॥ (सूयगडो 5/1/10)

कुछ परमाधार्मिक देव किन्हीं के गले में शिला बांधकर उन्हें अथाह पानी में डुबो देते हैं। (वहां से निकालकर) तुषागिनी की भांति (वैतरणी के) तीर की तपी हुई बालुका में उन्हें लोटपोट करते हैं और भूतते हैं।

असूरियं णाम महाभितावं, अंधं तमु दुप्पतरं महंतं ।

उडुं अहे यं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थगणी झियाइ ॥ (सूयगडो 3/1/11)

असूर्य नाम का महान् संतापकारी एक नरकावास है। वहां घोर अंधकार है, जिसका पार पाना कठिन है - इतना विशाल है। वहां ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में निरंतर आग जलती है।

अगणी-आग

तत्थ कालोभासी अचेयणो अगणिव्कायो । (चूर्णि, पृ. 129)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ काली आभा वाला अग्निकाय किया है। वह अचेतन होता है।

जंसी गुहाए जलणेऽतिवट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो ।

सया य कलुणं पुण धम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ॥ (सूयगडो 5/1/12)

उसकी गुफा में नारकीय जीव ढकेला जाता है। वह प्रज्ञाशून्य नैरयिक निर्गमद्वार को नहीं जानता हुआ उस अग्नि में जलने लग जाता है। नैरयिकों के रहने का वह स्थान सदा तापमय और करुणा उत्पन्न करने वाला है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यंत दुःखमय है।

चत्वारि अगणीओ समारभेत्ता, जहि कूरकम्मा भितवेति बालं ।

ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवन्तु व जोइपत्ता ॥ (सूयगडो 5/1/13)

क्रूरकर्मा नरकपाल नरकावास में चारों दिशाओं में अग्नि जलाकर इन अज्ञानी नारकों को तपाते हैं । वे ताप सहते हुए वहां पड़े रहते हैं, जैसे अग्नि के समीप ले जाई गई जीवित मछलियां ।

अयं व तत्तं जलियं सजोई, तओवमं भूमिमणुक्कमंता ।

ते डञ्जामाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥ (सूयगडो 5/1/13)

तस लोह की भांति जलती हुई अग्नि जैसी भूमि पर चलते हुए वे जलने पर करुण रुदन करते हैं । वे बाण से बींधे जाते हैं और तपे हुए जुए से जुते रहते हैं ।

(1) तओवमं-अग्नि जैसी

सा तु भूमि.... न तु केवलमेवोष्णा ।

ज्वत्तिलज्ज्योतिषाऽपि अणंतगुणं हि उष्णा, सा, तदस्या औपम्य तदोपमा । (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135)

एवा तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् । (सूत्रकृतांग वृत्ति-पत्र 135)

यह भूमि का विशेषण है । इसका संस्कृत रूप है 'तदुपमाम्' । वह भूमि केवल उष्ण ही नहीं है, किंतु अग्नि से भी अनंत गुण अधिक उष्ण है ।

(2) ते डञ्जामाण-वे जलने पर

ते तं इंगालुत्तं भूमिं पुणो पुणो खुंदाविज्जंति । (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135)

नरकपाल धधकते अंगारे जैसी उष्ण भूमि पर नैरयिकों को जाने-आने के लिए विवश करते हैं ।

समूसियं णाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।

अहोसिरं कट्टु विगत्तिरुणं, अयं व सत्थेहि समूसवेति ॥ (सूयगडो 5/2/8)

वहां एक बहुत ऊंचा विधूम अग्नि का स्थान है, जिसमें जाकर वे नैरयिक शोक से तस होकर करुण-रुदन करते हैं । नरकपाल उन्हें बकरे की भांति औंधे सिर कर उनके सिर को काटते हैं और शूल पर लटका देते हैं ।

विधूमठाणं

(1) विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद् निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव

धूमो भवति अथवा विधूमवद्, विधूमानां हि अङ्गाराणामतीव तापो भवति । (सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 136)

चूर्णिकार ने बताया है जो अग्नि इंधन से ही प्रज्वलित होती है, उससे धुआं अवश्य ही निकलता है ।

नरक की अग्नि निरिंधन होती है ।

सयाजलं ठाण णिहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्टो ।

चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, अहस्सरा केई चिरट्टिईया ॥ (सूयगडो 5/2/11)

सदा जलने वाला एक महान् वधस्थान है । उसमें बिना काठ की आग जलती है । वहां बहुत क्रूर कर्म वाले नैरयिक जोर-जोर से चिल्लाते हुए लंबे समय तक रहते हैं ।

जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोणंतगुणे तहिं ।

नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥ (उत्तरज्जयणाणि 19/47)

जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनंत-गुना अधिक दुखमय उष्ण-वेदना वहां नरक में मैंने सही है ।

कंदतो कंदुकुंभीसु, उडुपाओ अहोसिरो ।

हुयासणे जलंतम्मि, पक्कपुव्वो थणंतसो ॥ (उत्तरज्झयणाणि 19/49)

पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर आक्रंदन करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ।

हुयासणे

तत्र च बादरागनेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते । (बृहद्वृत्ति, पत्र 459)

अग्निकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं-सूक्ष्म और बादर। अग्नि के बादर जीवन नरक में नहीं होते। यहां जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नहीं, किंतु अग्नि जैसे तापवान और प्रकाशवान पुद्गलों के लिए है।

महादवगिगसंकासं, मरुम्मि वइरवालुए ।

कलंबबालुयाए य, दडुपुव्वो अणंतसो ॥ (उत्तरज्झयणाणि 19/50)

महा दवाग्नि तथा मरु-देश और वज्र-बालुका जैसी कदंब नदी के बालु में मैं अनंत बार जलाया गया हूँ।

हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो वि व ।

दडुो पक्को य अवसो, पावकम्मोहि पाविओ ॥ (उत्तरज्झयणाणि 19/57)

पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भांति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूँ।”

“निष्कर्ष

उक्त विवरण का निष्कर्ष यह है-विद्युत्-ऊर्जा है। इसे काष्ठविहीन अग्नि भी कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के प्रयोग के समय तेजोलब्धि-संपन्न व्यक्ति के मुख से निकलने वाली ज्वाला को अग्नि कहा जा सकता है, वैसे ही विद्युत् को अग्नि कहा जा सकता है।

जैसे नरक में होने वाली ऊर्जा को अग्नि कहा गया है वैसे ही विद्युत् ऊर्जा की ऊर्जा को अग्नि कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है और जैसे नरक में होने वाले तैजस परमाणुओं की ऊर्जा अचित्त है वैसे ही विद्युत् की तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है।”

42. तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट किया है, जिसके लिए द्रष्टव्य है-परंपरा की जोड़, जो 'तेरापंथ : मर्यादा और व्यवस्था', पृष्ठ 341-362 में प्रकाशित है। उसमें आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-इन पांच व्यवहार को समझाया गया है। यहां कुछ पद्य उद्धृत हैं (पृष्ठ 341-346-

ढाल 1 (दूहा)

1. परंपरा नां बोल बहु, गणि बुद्धिवंत री थाप ।
दोष नहिं छै तेहमें, जीत व्यवहार मिलाप ॥
2. आगम, श्रुत, आणा, धारणा, जीत, पंचमो जोय ।
ए पंच व्यवहारे वर्ततां, श्रमण आराधक होय ॥
3. ठाणांग ठाणें पांच में, तथा सूत्र व्यवहार² ।
भगवती³ अष्टम शतक में, अष्टमुद्देशे सार ॥

4. तिण सू जीत ववहार में, दोष नहिं छै कोय ।
नीतिवान गणपति तर्णो, बांध्यो जीत सुध जोय ॥
5. सुध आलोची मुनि करे, असम्यक् पिण सम्यक् कहिवाय ।
आचारांग^१ अध्ययनपंचमें, पंचमक उद्देशे वाय ॥
11. तथाजोड़किवाडयातर्णो, चोपनै कीधी स्वाम ।
तिण मांहै पिण थापियो, जीत ववहार सुधाम ॥
आचार्य भिक्षु कृत किवाडिया री ढाल, गा. 21 से 24 तथा-
सूत्र मांही तो मूल न वरज्यो, परंपरा में पिण बरज्यो नांहि ।
तिण सू जीत ववहार निर्दोष थाप्यां री, संका म करो मन मांहि ॥
जो कवाडिय री संका पडै तो, संका छै ठाम-ठाम ।
ते कहि कहि ने कितराएक केहू, संका रा ठिकाणा ताम ॥
साधु तो हिंसा रा ठिकाणा टाले, छद्मस्थ तर्णे ववहार ।
सुध ववहार चालतां जीव मर जाये तो, विराधक नहीं छै लिगार ॥
इहां भीखणजी स्वामी आपणा ववहार में जीत ववहार थापै तिण में दोष न कह्यो । सुध ववहारे
चालतां जीव मर जावै तो पिण विराधक नहीं, तिम सुध ववहार जाण में थाप्यो तिण में पिण
दोष नहीं । अनै ते जीत ववहार में पाछला ने दोष भ्यासे तो छोड़ देणो । आगे निर्दोष जाण जाण
नें सेव्यो त्यांने दोष न कहिणो । तथा सुयगडायंग श्रुतस्थ दूजो अध्ययन पांचमा में एहवी गाथा
कही-

अहाकम्मणि भुंजति, 'अण्णमण्णस्स कम्मणा' ।

उवलित्ते त्ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं विजाणए ॥ (सूयगडो 2, अ. 5, गाथा 8, 9)

अथ इहां पिण कह्यो आधाकर्मी पिण सुध ववहार में निर्दोष जाणीं नें भोगवें तो पाप कर्म करि न
लिपावै । तिम आचार्य बुद्धिवंत साधु आपणा ववहार में निर्दोष जाणी ने जीत ववहार थापे तिण में
पिण दोष न कहिणो तथा भगवती, ठाणांग, ववहार सूत्र में पांच ववहार कहाा ते पाठ-
कतिविहे णं भंते! ववहारे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा आगमे, सुतं, आणा,
धारणा, जीए ।

जहा से तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारं पट्टवेज्जा । णो य से तत्थ आगमे सिया, जहा
से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्टवेज्जा ।

णो य से तत्थ सुण सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पट्टवेज्जा ।

णो य से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पट्टवेज्जा ।

णो य से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पट्टवेज्जा ।

इच्चएहिंपचहिं ववहारं पट्टवेज्जा, तं जहां आगमेणं, सुएणं आणाए, धारणाए, जीएणं ।

जहा-जहा से आगम सुए आणा धारणा जीए तथा-तहा ववहारं पट्टवेज्जा ।

से किमाहु भंते! आगमबलिय समणा निग्गंथा ?

इच्चतं पंचविंश ववहारं जदा-जदा जहिं-जहिं 'तदा-तदा' तहिं-तहिं अणिस्सि-ओवस्सितं सम्मं ववहरमाणे समणे निग्गंथे आणाए आराहए भवइ ।

(भगवई-सत 8/301, ववहारं उ. 10, ठाणं 5/124)

इहां पांच ववहार में धारणा ववहार अनै जीत ववहार पिण कह्यो । सुध सरधा आचार वंत साधु नो बांध्यो जीत ववहार में दोषी नहीं । ते जीत ववहार ना केतला एक बोल कहै छे-

दूहा

12. जीत ववहार ना बोल नो, आखूं छूं अधिकारं ।
दृढ़ समदृष्टि निपुण ते, नाणे संक लिंगार ॥
28. इत्यादिक अनेक बोल सुध, जाणी आचार्य थापै ।
जीत ववहारतास जिन आणा, बुद्धिवंत नाहिं उथापै ।
29. आगम श्रुत नें आणा धारणा, जीत पंचमो साधक ।
पंच ववहार पणे प्रवर्त्या, आज्ञा तणों आराधक ।
30. ए ठाणांग भगवती ववहारसूत्रे, आख्यो एम जिणंदा ।
तो जीत ववहार उथापै ते तो, प्रगट जैन रा जिंदा ॥
31. भिक्षु स्वाम तर्णी ए बांधी, उत्तम वर मर्यादो ।
विमल चित आराधे सुगणां, मेटी भर्म उपाधो ॥”
43. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 57-63
44. देखें प्रथम भाग की टिप्पण संख्या 8(B)
45. आचार्य तुलसी, जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/9-11-
“जीवपुद्गलयोर्विविधिसंयोगेः स विविधरूपः ॥9॥
(वृत्ति-इयं विविधरूपता एव सृष्टिरिति कथ्यते ।)
संयोगश्चापश्चवानुपूर्विकः ॥ 10 ॥
कर्म-शरीरोपग्रहरूपेण त्रिविधः ॥ 11 ॥
(वृत्तिः-उपग्रहः-आहार-वाङ्-मनः-उच्छ्वासनिःश्वासादयः ।)
अनुवाद -“जीव और पुद्गलों के विविध संयोगों से वह (लोक) विविध प्रकार का है-
(लोक की इस विविधरूपता को ही सृष्टि कहा जाता है । (पौर्वापर्यशून्य) है । ॥10॥
जीव और पुद्गल का संयोग अपश्चानुपूर्विक संयोग तीन प्रकार का है-
1. कर्म, 2. शरीर, 3. उपग्रह ॥ 11 ॥
(उपग्रह-आहार, वाणी, मन, उच्छ्वास-निःश्वास आदि उपकारक शक्तियाँ ।)
46. आचार्य महाप्रज्ञ, पूर्व उद्धृत लेख, पृष्ठ 16
47. वही, पृष्ठ 15

ENGLISH SECTION

Editor - Dr Jagat Ram Bhattacharya

Ācārāṅga-Bhāṣyam

Ācārya Mahāprajña

CHAPTER - II

PONDERING OVER THE NATURE OF THE WORLD

SECTION - 4

2.75 *tao se egayā roga-samuppāyā samuppajjamti.*

Then sometimes, there arise diseases and ailments in him.

Bhāṣyam Sūtra 75

Wealth is a means to the acquisition of sensual objects. A wealthy person enjoys them; then on that account, sometimes there may occur ailments. Diseases like fistula and nervous and muscular disorders may occur, according to the *Cūrṇi*.¹ According to the *Vṛtti*,² the occurrence of the diseases of debility, fistula etc. may take place. This is confirmed in the Caraka-saṃhitā too.

2.76 *Jehim vā saddhim samvastī te vā ṇam egayā ṇiyayā puvvīm parivayamti so vā te ṇiyage pacchā parivaejjā.*

Sometimes, his own family members reproach him or in turn he reproaches them.

2.77 *nālam te tava tāṇāe vā, saraṇāe vā. tumampi tesim nālam tāṇāe vā, saraṇāe vā.*

Neither do they rescue or offer him succour, nor can he rescue or offer them succour.

Bhāṣyam Sūtra 76-77

His associates, his own relations, sometimes obey him, when he is in good health and capable of doing his work, and follow him to the royal family, assembly or pleasure garden (for merriment). Afterwards, they neglect him when he falls ill and is out of work. He also in turn would neglect them afterwards.³

Here 'rescue' stands for cure by medical treatment,⁴ and 'succour' for relief from the disease.⁵

Some people do not neglect even the sick (and the disabled), but are incapable of giving any medical relief or of curing the disease. You are also not able enough to give medical treatment to them or cure their malady.

2.78 jānittu dukkham patteyaṃ sāyaṃ.

Understand the pleasure and pains as earned by oneself.

Bhāṣyaṃ Sūtra 78

The suffering by earning wealth or enjoying sensual objects is limited to the person himself. It attaches to the doer, and is not transferable to the persons for whom one exerts. Similarly, the pleasure is limited to the doer himself. Knowing this truth one should not be addicted to earning wealth and relishing sensual objects.

2.79. bhogāmeva aṇusoyanti.

Some people think of their sensual objects alone.

Bhāṣyaṃ Sūtra 79

Some people realize that illness arises from relishing the sensual objects and medical treatment and cure ailments are impossible of being done by others and that pleasure and pain are confined to oneself. Even then they think about the ways of acquiring the objects of enjoyment. This is how delusion finds vent in them.

2.80 ihamegesim mānavāṇaṃ.

For some people wealth alone is the supreme end.

Bhāṣyaṃ Sūtra 80

Some people are of the view that wealth (worldly prosperity) alone is the root of the human ends. For instance, according to *Chanakya*, religion and sensuality have wealth as its source.⁶ They earn wealth being instigated by such ideology.

2.81 tivihena jāvi se tattha mattā bhava- appā vā bahugā vā.

He amasses wealth in small or large quantity through the triple effort of himself, others and both.

Bhāṣyaṃ Sūtra 81

Such person succeeds in acquiring wealth and property, small or large, in triple way: the effort of himself, of others or of both, or by the exertion of mind, speech and body. As a result, he becomes a millionaire or even a multi-millionaire

2.82 *se tattha gadhie ciṭṭhati, bhoyaṇāe.*

He gets ensnared in fortune for its enjoyment

2.83 *tato se egayā viparisitṭham sambhūyam mahovagaraṇam bhavati*

Then, at one time, his manifold savings grow into a large fortune.

2.84 *taṃ pi se egayā dāyāyā vibhayaṃti, adattahāro vā se avaharati, rāyāṇo vā se viluṃpaṃti ṇassai vā se, viṇassai vā se agāradāheṇa vā dajjhai.*

Then, at another time, his fortune is divided by relatives among themselves, or stolen by the thief, or confiscated by the king, or is lost, or destroyed, or burnt in housefire.

2.85 *iti se parassa atṭhāe kūrāim kammāim bāle pakuvvamāṇe teṇa dukkheṇa muḍhe vippariyāsuvei.*

In this way the ignorant person engaged in cruel acts for the sake of others, is bewildered by his suffering and has a setback (i. e. loss of fortune).

Bhāṣyam Sūtra 82-85

These are to be explained just like sūtras 66-69.

2.86 *āsam ca chaṃdam ca vigiṃca dhīre.*

Resolute aspirant! Give up your desires and hankering.

Bhāṣyam Sūtra 86

‘Resolute aspirant ! to get rid of perversion, you shall have to give up desires and waywardness.’

‘Desire’ means hankering after objects of enjoyment.

‘Hankering’ means indulgence in sensual pleasure.⁷ According to the Cūrni (p. 72) hankering is to comply with the wishes of others. Some people unwillingly accede to the wishes of others and indulge in evil acts.

2.87 *tumaṃ ceva taṃ sallamāhaṭṭu.*

You yourself are the maker of thorn.

Bhāṣyam Sūtra 87

‘Thorn’ means *karma* and its results. Desire and hankering are also thorns.⁸ From the thorn arises *karma*, from *karma* suffering. You are the creator of this thorn, so you alone can pluck it out.

2.88 *jeṇa siyā teṇa no siyā*

The same is the cause, and also not the cause.

Bhāṣyaṃ Sūtra 88

The wealth or the things that usually produce enjoyment or joy, sometimes, may not produce them, because of the fruition of karma which is diverse and because the body is afflicted with ailments, and also because there are other obstacles too.

2.89 *iṅameva nāvabujjhamṭi, je jaṅā mohapāudā*

The people are completely overwhelmed by delusion; so they do not understand this very nature of the irregularity of enjoyments.

Bhāṣyaṃ Sūtra 89

This is the objective truth, but the people who are under the sway of delusion cannot understand that. 'Delusion' means attachment and hatred. It is of two kinds: delusion about faith and conduct.

2.90 *thībhi loe pavvahie.*

The world is tormented by women.

Bhāṣyaṃ Sūtra 90

Overwhelmed by desires and hankering, oppressed by the thorn of lust, and not understanding the nature of irregularity of the objects in producing happiness, the world is tormented and dominated by women.

2.91 *te bho vayamṭi - eyāim āyataṅāim.*

O, they claim: women are the objects of enjoyment

Bhāṣyaṃ Sūtra 91

The interjection 'O' is for calling the attention of the disciple. People tormented by women claim that women are the objects, that is, they are the vessels of enjoyment. The objects (of enjoyment) are of two kinds: good and bad. The good ones are knowledge and the like, the bad ones are the sensual objects and women. The person of perverse thought is ignorant of the essence of good objects; so he mistakes the non-objects for objects. Women are not in fact the objects of enjoyment.

2.92 *se dukkhāe mohāe mārāe ṅaraḡāe ṅaraḡa-tirikkhāe.*

Such perverse thought is for his suffering, delusion, death, hell, post-infernal sub-human life.

Bhāṣyaṃ Sūtra 92

The mistaking of the non-object for the object is responsible for suffering, delusion, death, hell and post-infernal sub-human life.

'Delusion' means non-discrimination between the worthy and the unworthy. One attached to the sensual objects does not distinguish between the two.

A person excessively attached to the sensual objects, when unable to have access to coveted women, sometimes commits suicide too. Therefore, attachment to sensual objects leads to death.

The person attached to the sensual objects is born in hell. From hell, he goes to the life of animals. In this way, he goes on transmigration, time and again, from hell to animal life and vice-versa.

2.93 *satatam mūdhe dhammam nābhijānai.*

The eternally deluded person does not recognize the true discipline.

Bhāṣyam Sūtra 93

Involved in the cycle of transmigration in various species of life, the eternally deluded person being bewildered, cannot understand the discipline. Understanding of the discipline in the state of bewilderment is impossible. Without understanding the discipline, one cannot overcome bewilderment. There is now in human life some break in bewilderment, and so the injunction is made for practising self-awareness and vigilance in the sutra that follows.

2.94 *udāhu vīre - appamādo mahāmohe.*

Thus proclaimed Lord Mahavira: Practise vigilance against the great delusion (of sensual gratification).

Bhāṣyam Sūtra 94

The word 'virah' here stands for a Tirthankara of Lord Mahāvīra. He proclaimed the practice of vigilance against the great delusion.

The 'great delusion' means the sexual desires for female, male or hermaphrodite, or desire to indulge in sex.

2.95 *alam kusalassa pamāenam.*

The prudent should not succumb to non-vigilance.

Bhāṣyam Sūtra 95

Where is the chance of non-vigilance for the prudent? 'Prudent' means one who has restrained his attachment or one who has engaged himself in the practice of detachment. What is the scope of non-vigilance in a person who is free from attachment? The cause of non-vigilance is delusion. Only by getting rid of non-vigilance, a person can be free from attachment. Thus, in no case and at no time, desire for sensual objects arise in such person. One who is engaged in practising detachment may sometimes be confronted with the occasion of great delusion. The Lord's counsel to him is: "Thou art prudent, thou art keenly intent on achieving the state of detachment; what is the scope of non-vigilance in thee; thou shouldst always be vigilant."

2.96 *saṃti-maraṇaṃ saṃpehāe, bheuraḍhammaṃ saṃpehāe.*

Reflection on the tranquillity of passions and also on death, and further on the transitoriness of the body, leads to strengthening of the power of vigilance.

Bhāṣyaṃ Sūtra 96

In the absence of the practice of vigilance, it is impossible to practise vigilance and avoid non-vigilance. Here the support for such practice is given, which has three elements: reflection on tranquillity, reflection on death, reflection on transitoriness.

Tranquillity means liberation or unhindered spiritual effort; death stands for worldly life or obstructive mundane activities; transitoriness means impermanence of the body.

Constant practice of the perception of tranquillity, death and transitoriness destroys non-vigilance and augments the power of vigilance.

2.97 *ñālaṃ pāsa.*

Look at the incapacity (of the sensual objects to produce satisfaction).

Bhāṣyaṃ Sūtra 97

The sūtra supports vigilance. You, an intelligent being, look at these sensual objects which even when enjoyed to one's heart's content are insufficient to give satisfaction, they intensify the dissatisfaction instead. It has been said: the fire is not quenched by wood, nor the ocean by rivers, nor the death by devouring the entire creation, nor women by any number of men.⁹

2.98 *alaṃ te ehiṃ.*

What then have you to do with them?

Bhāṣyaṃ Sūtra 98

These sensual objects stimulate the discontent, and therefore, they are futile. Of what use are they for you ?

2.99 *eyaṃ pāsa muṇī ! mahabbhayaṃ.*

Look, monk (seer)! at this deadly source of fear.

Bhāṣyaṃ Sūtra 99

Muni literally meaning monk means 'seer'.

O seer ! wise as you are, look! this desire for sensual objects is the source of deadly fear. The hankering after the sensual objects is ignited by coveted and delicate stimulants. It produces pain and so is a source of great fear.

What sort of pain could be more severe than that which torments the person suffering from the malady of desires? Does not the person afflicted by sexual malady feel severe sensation of burning under the cool rays of the full moon?¹⁰

There is some relationship between the swelling up of human emotion and the full moon. This is accepted by modern scientists too.

2.100 nāivāeja kaṃcaṇaṃ.

One should not inflict injury on any being.

Bhāṣyaṃ Sūtra 100

A person addicted to sensual objects indulges in violence. The injunction about abstinence from desires is followed by the injunction about abstinence from violence. A person free from sensual desires will not injure any living being.

There is concomitance between enjoyment and violence. There can never be enjoyment without violence, though enjoyment may or may not accompany violence.

2.101 esa vīre pasamsie, je na nivijjati ādhānāe.

The hero who does not feel dejected on not getting alms deserves praise.

Bhāṣyaṃ Sūtra 101

A person without possession gets food etc. as offered by others as alms for the maintenance of his life. The offer of alms is dependent on the wish of the donor. The donor may be unwilling to offer or the material offered may not be as per rules. In both cases, offering does not materialize.¹¹ One who does not feel distressed in such circumstances is a praiseworthy hero.

2.102 na me deti na kuppijā, thovaṃ laddhuṃ na khimsae. paḍisehio pariṇamijjā.

He should not be angry, thinking: 'he does not give me alms'. Nor should he condemn the donor on getting meagre quantity. He simply retires, when refused by the householder.

Bhāṣyaṃ Sūtra 102

Here, the behaviour expected of a monk on the occasion of refusal of alms is laid down. The monk should not feel angry, thinking — “he is not offering alms to me.” Nor should he speak ill of a person who offers insufficient alms. If refused, he should leave the place¹² calmly and quietly.

The three occasions that cause agitation in the mind are: lack of offering, meagre offering and refusal. The monk who maintains tranquillity under such occasions is the hero. The hero alone is capable of an equanimous conduct.

2.103 *eyam moṇaṃ samaṇuvāsejjāsi. - tti bemi.*

One should practise such wisdom. — Thus do I say.

You should follow meticulously the aforesaid monastic norms. The person who knows (*munai* in Prakrit means 'knows') is a monk. The state of knowing is monkhood, which is thus identical with knowledge and self-restraint.

1. Ācharāṅga Cūrṇi, p. 71 : ahavā atikamāsattassa iheva bhagaṃdaro amṭavivhimāti rogā vātāti uppajjanti.
2. Ācharāṅga Vṛtti, patra 113 : kāmā duḥkhātmakā eva, tatra cāsaktasya dhātukṣayabhagandarādayo rogāḥ samutpadyante.
3. Ācharāṅga Cūrṇi, p. 72 : iha rogā adhikṛtā, tattha sammam rogissa kiriyam tāṇam.
4. Apte, Kriyā - Medical Treatment
5. Ācharāṅga Cūrṇi, p. 72 : vāhiivasamo saraṇam.
6. Kautaliyārthasāstram, 1.2.3: arthmūlau hi dharmakāmāviti.
7. Apte, chhanda - pleasure.
8. Uttarajjhayanāṇi, 9.53 : sallam kāmā, visam kāmā
9. The verse quoted in Ācharāṅga Cūrṇi, p. 75 :
nāgnistrpyati kāsthānām nāpagānām mahodadhiḥ.
nāntakṛt sarvabhūtānām, na puṃsām vāmalocanā.
10. The verse quoted in Ācharāṅga Cūrṇi, p. 75
etto va uṇhatariyā aṇṇā kā veyanā gaṇijjamti ?
jam kāmavāhigahito ḍajjhati kira camdakiraṇehim.. :
11. Cūrnau (p. 75) 'adānāe' iti pāṭho vyākhyataḥ - je na nivvijati adānāe
nivvedo nāma appanimdā, alabbhamānā nivvimdati appāṇam - kim mama
etāe dullabhalābhāe pavvajjāe gahiyāe ?
Vṛttau (Patra 116). adānāya iti pāṭho vyākhyato sti. Prakaraṇasaṅgatyā
adānamiti upayuktamasti. atra adānameva dīrghikaraṇād adānamiti
mantavyam.
12. Food is essential for sustaining of life. The monk obtains his food from householders. Taking food can become both indulgence and renunciation depending on whether it has been obtained and consumed with feeling of attachment or aversion or without such feelings. The *muṇi* practising self-discipline or renunciation should not, at the time of obtaining food, behave in an agitated manner. He should not frown upon nor should he criticize the donor. He should remain calm and equanimous.

Syādvāda: The Perspective of Indian Logic

Dr. Rajjan Kumar

India prone to spiritualism has had remarkable base of logical thinking . Its phases are numerous, mysterious, but are quite considerable. Syādvāda, a Jain conception, has immense potency to disclose the vast perspective of Indian Logic.

Logic in Indian Philosophy

In India Logic is called anvīksikī or anvīksikī par excellence, Hetuśāstra or Hetuvidyā, Nyāya-Śāstra, Vāda- Vidyā, Pramāna-Sastra Tarkabhasa etc, In Indian Philosophy Logic is considered as a Science which studies the processes or ways of investigation of objects (artha-parikṣa) and protects the Valid knowledge from invalid knowledge.² Here it has been well established that every prameya (knowable) can be known from Pramana (Logic). Prameya cannot be explained without Pramana.³ In Indian Philosophy it is Indifferently accepted “मानाधीना मेयसिद्धिः” i.e. meaning of Prameya follows Pramana.

Satish Chandra Vidyabhushan holds, “Indian Logic has been differently defined in different ages but the definition generally accepted is the Science which ascertains Valid knowledge either by means as Six senses or by means of the syllogism; in other words, perception and inference are the subject-matter of Logic.”⁴ In Indian Logic, we generally study kinds of knowledge, means of Validity, fallacies, the right ways of debates, examinations of objects and causation. We see some differences in different Indian schools, but the spirits of all of them are the same i.e. to study the laws of valid thought or knowledge.

Kinds of Knowledge

Pramā and Apramā are two technical words which are frequently used by Indian Logicians. Pramā is the appropriate experience (yathārthānubhava) and apramā is inappropriate experience (ayaṭhārthānubhava). Pramā is the fruit of Pramāṇa, i. e., valid means of knowledge.⁵ It is correct knowledge. For Nyāya Pramā is called Purusa-bodha.⁶ Vedānta and Mimāṃsā support this view of Nyāya and they call pramā, anubhūti or samvit.⁷ Cārvāka and Jaina call it Jñāna, while Buddhists define it as satya-samvṛtti.⁸

Nirvikalpaka (indeterminate) and Savikalpaka (determinate) are two types of knowledge. Jain, Samkhya, Yoga and Vedanta have enunciated this kind of classification of knowledge. Savikalpaka knowledge is of word and its meaning together or is a qualified knowledge while nirvikalpaka is of only meaning or is unqualified knowledge⁹, i. e., pure sensation. Besides, this knowledge is also divided into laukika (vyāvahārika) and alaukik (Parmārthika). Laukika is pertaining to worldly objects and alaukika to God, etc.¹⁰

Aparokṣa (immediate) and parokṣa (Mediated) are also adjudged the two types of knowledge. They are also called direct (pratyakṣa) and indirect (parokṣa). To Jainas knowledge is of 5 types - Mati, śrutu, avadhi, manah- paryāya and kevala. Mati (Sensuous) and śmta (scriptural) knowledge are put under parokṣa, and the other three avadhi (Visual intuition), manah-paryaya (intuition of mental- modes or telepathy and Kevala (perfect intuition) are classified under pratyakṣa.¹¹

The knowledge is pratyakṣa or parokṣa accordingly as it is born with out or with the help of an external instrument different from the self. But in order to bring their theory of knowledge in line with the theories of other systems of thought, the latter Jain thinkers accorded the status of pratyakṣa to the knowledge produced by the sense-organs also. Jinabhadra designates as samvivyāvahārika-pratyakṣa (empirically direct and immediate) the knowledge produced by the sense-organs and the mind. This gradual reorientation was due to the non-absolutistic attitude and its two corollaries, viz. the doctrines of different attitudes (nayas) and the sevenfold predication (Saptabhagī) which formed the nucleus of the development of Jaina thought.¹²

Knowledge and Naya

Knowledge, according to the Jainas is of two kinds- Pramāṇa and

Naya; knowledge of a thing as it is (Prāmāna) and knowledge of a thing in its relation (Naya).¹³ Naya means a standpoint of thought from which we make a statement about a thing.¹⁴ Dr. Radhakrishnan defines Naya as a Standpoint from which one makes a statement about a thing.¹⁵ All truth is relative to our standpoints. Partial knowledge of one of the innumerable aspects of a thing is called naya.¹⁶ Judgement based on this partial knowledge is also included in naya. Hence, it is conceived from one particular point of view or one-sided knowledge.

In Saptabhaṅgi Naya, where we find pluralistic doctrine of the Jaina Dialectics, Jainas say that the doctrine points to the relativity of knowledge concerning all the objects of the world.¹⁷ There are seven nayas of which the first Naya¹⁸ when taken as absolute, a naya becomes a fallacy-nayabhāsa.¹⁹

The total nayas are seven- 1. Naigama-naya 2. Saṅgraha-naya, 3. Vyavahāra-naya, 4. Ṛjusūtra-naya, 5. Śabda-naya, 6. Samabhirudhānaya, and 7. Evambhūta-naya. The first four are Arthanaya and the last three are Śabdānaya. Each naya or point of view represents only one of the innumerable aspects possessed by a thing from which we may attempt to know or describe it. When any such partial viewpoint is mistaken for the whole, we have a nayabhāsa or a fallacy, The seven fallacies are-Naigamābhāsa, Saṅgrahābhāsa, Vyavahārābhāsa, Ṛjusūtrabhāsa, Śabdābhāsa, Samabhirudhābhāsa and evambhūtābhāsa.

The nayas are also distinguished as Dravyārthika or from the point of view of substance, and Paryāyārthika or from the point of view of modes.²⁰ Dravyārthika takes into account the permanent nature and unity of things while the Paryāyārthika account the passing modification and the diversity of things. When a thing is taken to be either as permanent only or as momentary, either as one only or as many only, fallacies arise.

Anekānata

Truth has infinite aspects.²¹ It is of two types: immediate and mediated. Only an omniscient observer can obtain the immediate knowledge of an object in its totality. But an imperfect or an ordinary man knows one or a few aspects.²² Such a partial knowledge of an object having infinite attributes is called naya. It is a knowledge having certain standpoints, and is also relative, not having an absolute knowledge of truth.

To Jainas, it is impossible to intuit all aspects of a thing by an average man as his knowledge is partial and relative. A thing has got an infinite number of characteristics of its own.²³ Every object possesses innumerable positive and negative characters. We can only know some qualities of some things. To know all the aspects of a thing is to become omniscient.

A thing has many characters and it exists independently. They may have virudhasvabhāva (opposite characters.), and hence are anekāntic in character.²⁴ Anekāntic means having different characters differing from each other in quite special manner as Akalanka defines - things are absolutely sat or are absolutely asat, or are absolutely nitya or are absolutely anitya, avoidance of such kinds of absolute extreme is called Anekānta.²⁵

Hence, it is very much clear that a thing has opposite attributes and acceptance of all those is called Anekanta. The seed of Anekanta is found in Agamic literature and is well explained - who knows all the qualities of thing, knows all the qualities of all things, and he who knows all the qualities of all things, knows all qualities of one thing.²⁶ Human knowledge is necessarily relative and limited and so are all our judgements. This is the platform of Anekant and metaphysically it is known as Anekantvada, while the epistemological and logical side that we can know only some aspects of reality and that therefore all our judgements are necessarily relative, is called Syadvada.

Doctrine of Saptabhangī

Truth is manifold, knowledge is relative. We ascertain something on some standpoint. Disputes arise out of a confusion of standpoints. Jain logicians co-subsist the confusions of standpoints and enumerate a doctrine of saptabhangī, which is of reality. When reality is dynamic and truth is manifold, our task of knowing the truth becomes difficult for there is nothing certain on account of endless complexities of things,²⁷ and hence the expression of truth must be equally difficult if not more, for the words fail to describe the different characters of a thing at the same time.²⁸ So the speaker does describe one character which is prominent than the other characters in that object. Therefore, we have no right to make any absolute judgement.

Every proposition gives us only a perhaps, a may be or a Syāt. Absolute affirmation or negation of any object is therefore unreasonable.

All propositions are only hypothetically true. Hence unlike ordinary logic Syādvāda recognizes conditional predication, which is expressed by the prefix Syāt.²⁹ Logic of Syādvāda differs from ordinary logic in the fact that instead of two kinds of Judgement as affirmative and negative it recognizes as many as seven forms of judgement. So Syādvāda is also called Saptabhaṅgī.³⁰

Syādvāda and Saptabhaṅgī.

Syādvāda and saptabhaṅgī are interrelated. Saptabhaṅgī means seven fold judgement and Syādvāda is enumerated by saptabhaṅgī. Syādvāda has two words Syāt and Vāda. Syāt means Kathaṅcit, somehow, in respect of, vāda is the tenet of relative or partial or conditional knowledge.³¹ It is true in some particular place, time and condition. The differences among the different philosophical systems are also partial truths. They represent their difference of views (naya). We cannot state any thing in its totality. Jaina thinkers, therefore, prefer to qualify every judgement by the word Syāt (somehow, perhaps, be expressed in which the statement or judgement (naya) is made.

To make it simple and comprehensive, Jaina logicians have confined the infinite facets of reality to only seven aspects. This view is called saptabhaṅgī naya or the seven forms of judgement (affirmative and negative), e.g., the same line can be said to be longer, smaller, not longer, not smaller, etc, in some respect. These seven forms are as follows:³²

1. Syād-asti - Somehow A is B
2. Syād -nāsti - Somehow A is not B
3. Syād -asti ca nāsti ca - somehow A is and also is not B.
4. Syād -avaktavyam - Somehow A is indescribable.
5. Syād -asti ca avakavyam ca- Somehow a is B and is also indescribable.
6. Syād - nāsti ca avaktavyam ca - Somehow A is not B and is also indescribable.
7. Syād -asti ca nasti ca avaktavayam ca - Somehow A is B, also is not B and is indescribable too.

Though there are innumerable aspects and attributes of an object, they can be categorized through only these seven forms. Now, the question arises why only seven forms, and it can be solved in the following manner-

Out of above seven bhaṅgas, first, second and fourth are the mūla bhaṅgas and the rest four are combination of these three. This combination makers only seven bhaṅgas either on mathematical calculation or number basis. To mathematics, the three mūla bhaṅgas and its association produce only seven, not more bhaṅgas. Three mūla bhaṅga- 1. Asti, 2. Nāsti and 3. Avaktavya. Its dual bhaṅgas are only three- 4. Asti-nasti, 5. Asti- avatavya and 3. Nāsti-avaktavya. And one triple combination bhaṅga i.e.- asti-nasti-avaktavya.

On the basis of numerical queries, there are only seven queries and likewise there are only seven answers. It is very well explained by vidyānada.³³ These are seven types of questions and can be sorted out by seven kinds of answers. These seven answers itself are called saptabhaṅgī. Objects have infinite disparities, and each disparity has separate infinite seven-seven bhaṅgas, hence there is infinite saptabhaṅgīs. Here, it is also mentioned that in respect of infinite attributes of on object, there are infinite seven bhaṅgas, but we do not have infinite bhaṅgas. Because each attribute of on object possesses only one seven bhaṅga. Hence, it is admissible to infinite Saptabhaṅgī for infinite attributes.³⁴

The Logical model of Syādvāda

It is well established that Syādvāda is a kind of many-valued logic. And the word Syāt which is called nipāt has significant meaning and well argued by the Logicians. They interpret syāt as may be, perhaps, possibly, probably and alike notions. Some others define syādvāda in terms of conditional propositions and formulated it in quite different manner as mentioned in traditional forms. Pradeep P. Gokhale formalized the seven-fold scheme of Syādvād in the following way.³⁵

1. MP
2. M∩P
3. MP. M∩P
4. M≠P
5. MP. M≠P
6. M∩P. M≠P
7. MP. M∩P. M≠P

Gokhale writes down³⁶- “Although Jainas use the term syāt

throughout the seven fold scheme of Syādvāda, the different occurrences of syāt point at different standpoints in different cases. Syāt in Syāt asti does not point at the same standpoint as Syāt in Syāt nāsti does. Now, although the third bhaṅga Syāt asti nāsti ca contains only one occurrence of Syāt we will have to analyse it as Syāt asti Syāt nāsti ca and also keep in mind that the two occurrences of Syāt in this analysis do not point at the same standpoint. The same thing has to apply to our use of the modal operator M.’’ He further Says, ‘‘we will have to use some special operator for indicating avaktavya. Just as we signify. It is not the case that, p by \wp p. Similarly, we could signify ‘It is indeterminable whether p by \forall p.

Syādvāda Interpretation

Syādvāda, the judgements of Jaina are not merely subjective and idealistic but objective and real. It is realistic and, therefore, it is a kind of relativism. It is not Skepticism as others thought but a relative or conditional valid character of an object.³⁷ The nayas appear contradictory in themselves which is not the case. These nayas depend on upādhibhed and various partial standpoints. The saptabhaṅgī gives only the distinct aspects of the propositions. Irrelevant application or ignorance or misunderstanding of the doctrine may create contradictions in the nayas.³⁸ These nayas are the application of the doctrine to certain problems of philosophy.

A person may explore continuously, if he believes in the tenet of Syadvāda and many sided reality because he has to unfold the various aspects and attributes of an object and apply.

For an ordinary man, it is difficult to accept or establish the absolute truth. We cannot say that something is absolutely eternal or non-eternal (transitory). We are living in the world of confusions and contradictions. There would arise a great misconception if one does not judge the difference between empirical truth (Vyāvahārika or conditional) and absolute truth (paramārthika or ultimate).

The methods adopted by defining Syadvāda, it is charged that Syadvāda is a collection of partial truths. Of course it is true, but at the same time it can be said that it has a method which helps to reach the ultimate or absolute truth or nature of objects in our everyday life. One is expected to attain the absolute truth by being a universal observer.

It is quite right that reality of the statements depends upon the

relations of condition, places, modes, time, etc, in which it is told
Regarding all the above said discussion we conclude syādvādas as based
on-

- Everything in the Universe has infinite characteristics.
- Normal human being with his/her limited capabilities cannot apprehend all the characteristics of an object, idea or proposition.
- Men's knowledge is relative.

References:

1. Nyāyasūtra, 1/1/1; Manusmṛti, 7/43; Kautilya Arthashastra, 1/2/7; Ramāyana, (Ayodhyakāṇḍa) 100/36; Mahābhārata, 180/47; History of Indian Logic. S.C. Vidya Bhushan, p. 6-8
2. प्रमाणौ रथपरीक्षणं न्यायः । Nyāyasūtra, 1/1/1;
तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणार्थं प्रल्पवितण्डे कण्टकशाखावरणतत, Tarka-Bhāsā. p. 17
3. प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः Nyāyabhāṣya., p.2
4. History of Indian Logic, Introduction.
5. Tarkabhāṣa Edt. Sri Niwasa shastri, pp 13-16
6. Nyāyasūtra, 1/1/1
7. Vide Bhāratīya Darśana, Umesh Mishra, pp, 254, 371
8. Ibid
9. Nyāya - Darśana, Udayavir shastri, pp. 191, 192; Bharatīya Darśana, Mishra , pp. 160, 264.
10. Sāṅkhya Tattva Kaumudi, 4
11. Sthānāngsūtra. II, I. 71; Tattvārthasūtra, I. 9-12
12. Vide studies in Jain Philosophy, Nathmal Tatia, pp 28, 29
13. प्रमाणनयैरधिगमः, Tattavārthasūtra, 1/6
14. Nyāyasūtra, 29
15. History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 298 vide Jain Perspective in Philosophy and Religion, Ramaji Singh, p. 242
16. नीयते गम्यते येन श्रुतायांशो नयो हि सः । Tattavārthaslokavārtika. 1/33/6
17. नयो ज्ञातुरभिप्रायः, Laghiyastrya, 32; Nyāyadīpikā, 125; Aptamimānsā, 106; Syādvādmanjarī, 28

18. नयोद्विविधः, Sarvārthasiddhih, 1-6
19. Aṣṭasahstrī, p 290
20. द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति, Nyāyadīpikā, 125
21. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम् Anyayagavyavaccheda, 22
22. Syādvādadarśanasamuccaya (Gūṇaratna), 55
23. अनन्तधर्मात्मकं वस्तु Anyayoga. 22
24. अनेकान्तात्मकं वस्तेवकांतरं वरूपानुपलब्धेः, Parik Sāmukham. P. 124
25. सदसन्नित्यनित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः Aṣṭasati (Bhaṣya), p 281
26. आचारांगसूत्र
27. History of Indian Philosophy, vol- I, Radhakrishnan, p 302
28. Saptabhaṅgi and Syādvāda, Kailash Chandra Siddhon Shastri vide Premi Abhinandan Granth, p. 324
29. Jain Perspective in Philosophy and Religion, p. 243
30. सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभंगीति गीयते, Syādvādamanjarī, p 278
31. सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः । Commentary on Pancāstikāya (Amritchandra) Aptamimānsā Tattavadīpikā, Udayachandra Jain, Prastāvanā. p. 92
32. Syādvādamanjarī, , 23
33. Aṣṭasahstrī, pp.125-126
34. Āptamimānsā Tattavadīpikā, Prastāvanā, p. 97
35. “The Logical structure of Syādvād”- Pradeep P. Gokhale, JICPR 1991, pp. 75-76
36. Ibid, pp 75-76
37. Dialectics, International Review of Philosophy of knowledge 15.6.54. Switzerland.
38. उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधिभीताः जडास्तदेकान्तहताः पन्ति ॥ Syādvādamanjarī, 24

Glimpses of the Aspects of Jainology and Buddhist Studies

A BOOK REVIEW

— Dr Pradyumna Shah

The book Aspect of Jainology and Buddhist Studies is a felicitation volume in the honour of Professor Prem Suman Jain an eminent authority to oriental studies, is edited by Dr Jinendra Jain. The book has myriad characteristics but one of them is to present an overall outlook on the huge scholarly work which has been performed by the Honâble Professor Prem Suman Jain in the duration of 35 years. It was pious commitment of his worthy students like Dr. Jinendra Jain devoted to studies of oriental learning to highlight the valuable works of his Guru. This commitment came into existence as a consequence of constant persuasion and an uninterrupted approach to scholars who are also devoted in the field of oriental studies.

For the good representation, the book has been classified in three main parts. The first part represents Professor Prem Suman Jain: Personality and Contributions. The second part of the book makes us acquaintant with the latest scholarly research articles written by Professor Prem Suman Jain. In this part only his ten (10) articles have been compiled by the editor. The third part is the biggest one, which represents the articles given by the different well-known scholars purposely in the honour of Professor Jain. Comprising all these three parts, this book has become a valuable tretise that not only highlights the scholarly work by the Professor Jain but it also represents the thought provoking articles of many eminent scholars. One cannot help without the praise to Dr Jinendra Jain, the editor of the book for his skill in editing. The book begins from the thoughts of the persons closely related with Professor Jain and the thoughts revealed by the erudities on his life. In the same continuation the reviewes on the selected books by Professor Jain have been brought out. In this way the first part of the book elucidates Professor Jainâs personality and his unmeasurable contribution to the field of oriental studies. It also makes us acquaintant with this truth that Professor Jain has equal command over whole Shramana tradition viz. Jainism and Buddhism. He is well known grammarian at Prakrit language.

The second part of the book is entirely devoted to highlight the articles by Professor Prem Suman Jain related to Prakrit and Pali language and literature. Articles fulfill the different tastes for the comparative studies in the field of Buddhism and Jainism like the articles æ áMahayani ideals and Jain Religionâ, and the áSocial speciality of the teaching of the Lord Buddhaâ.

The articles attract the attention even of the scholars to go throw them. One of the articles is the áEquivalent views about the ultimate reality in Jainism and Hinduismâ, that focuses over on very important issue the ultimate reality from both the tradition Jainism and Hinduism. The author discusses on the trio of the traditions.

As third part of the book has been nominated as the áAspects of Jainology and Buddhist Studiesâ, represents 33 articles. Mostly, the authors of the articles are eminent and assiduous figures in the field of oriental studies. Some of the articles are related to Buddhist Philosophy and rest of the articles related to different aspects of Jain philosophy, Jain History, Jain Metaphysics, Jain Ethics, Jain Mathematics and Jain Art. In a nut-shell all areas of Jain philosophy have been covered up. If the Jain logic and epistemology had been included in the book it would have become more valuable.

Looking the articles of the book every scholar gains spontaneous mood to go through the book. This is the authenticity and purity of this valuable book. The work tells us the huge devotion of the editor, Dr Jinendra Jain in editing process. The title of the book shows its importance in itself. The get-up of the cover page of the book comprises its inner beauty in it. The book is presurvable not only in Institutionâs libraries but in the personal libraries of learners and scholars as well.

The book: Aspects of Jainology and Buddhist Studies
Edited by: Dr Jinendra Jain
Published by: Radha Publication
4378/4B, Ansari Road, Dariaganj,
New Delhi-110 002
Tel. No. 011-23254306, 23261839

Price: Rs. 695/- (Hard bound)

Assistant Director
Directorate of Distance Education
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

व्रत की भूमिका

व्रत व्यक्ति का “स्व” है। यह बलात् नहीं होता, स्वेच्छा से किया जाता है। व्रत कोई बाहरी वस्तु नहीं है। वह इच्छा और आचरण का नियमन है। व्यक्ति में इच्छा पैदा होती है और आचरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वह आचरण न किया जाय, जिससे आत्मा का विकास रुके और उसकी इच्छा भी मिट जाए, वैसा अभ्यास किया जाए - यही है व्रत।

व्रत आत्म-संयम से आते हैं। आत्म-विकास के लिए संकल्प पूर्वक स्वीकार किए जाते हैं, इसीलिए वे सामाजिक भ्रुविधा-अभ्रुविधा से बनते बिगड़ते नहीं। व्रत का परिपाक दीर्घकालीन साधना से होता है। व्रत की पहली भूमिका है श्रद्धा का जागरण, मध्यवर्ती है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण।

— अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

बुराई करने वाला अवश्य ही बुरा होता है पर बहुत अच्छा तो वह भी नहीं जो बुराई के भार से दब जाए। बुराई को पैरों से रौंदकर चलने वाला ही अपने मन को मजबूती से पकड़ सकता है।

With Best Compliments From :

BUDHMAL SURENDRA CHORARIA

408, Marshal House
25, Strand Road

KOLKATA-700 001 (W.B.)

Tel. : 033-22208055, 22200640 (O)

033-22479794 (R)

Mobile : 98310 15324

